6.8 सारांश

- ताम्रपाषाण संस्कृतियों का अभ्युदय ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के दौर में हुआ। सीमित मात्रा में ताम्र और भारी मात्रा में पत्थर की धारों का उपयोग इसकी मुख्य विशेषता थी।
- इन संस्कृतियों में की विषमता मौलिक न होकर मुख्यतः मृणपात्रों (मृदभांडों) तक सीमित थी।
- ताम्रपाषाण संस्कृतियों की पहचान भौगोलिक स्थितियों के आधार पर हुई है।
- पश्चिमी, मध्य और पूर्वी भारत की ताम्रपाषाण संस्कृतियों की कुछ समान विशेषताएँ हैं। जैसे मृदभांड जो अधिकतर काले-एवं-लाल हैं और अत्यधिक विशिष्ट फलक उद्योग।
- कश्मीर में सर्वाधिक ज्ञात नवपाषाणीय स्थल बुर्जहोम में है।
- ब्रह्म गिरि, मास्की, पिक्लीहल, सनगनाकल्लु, टेक्कलकोट, हल्लूर, उतनूर, टी. नारसीपुर और कुपगल जैसे स्थलों पर की गयी खुदाइयों से दक्षिण की नवपाषाणीय एवं ताम्रपाषाणीय संस्कृति की झलक मिलती है।

प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. (iii)

ख. (i) जोधपुर, मितथाल (ii) नसीरपुर, बहादरबाद

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. (i) अहार और गिलुंड (ii) कायथा (iii) मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र (iv) जोरवे (v) मालवा

ख. चिरांद, रोजर ढिबी, मषिदल

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. बुर्ज होम

ख. तिमारगढ़, अलीग्राम

ग. ब्रह्मगिरी, मस्की

घ. संक्षिप्त टिप्पणी

(i) देखें खंड 6.4.2

(ii) देखें खंड 6.4.3

(iii) देखें खंड 6.4.4

(iv) देखें खंड 6.4.5

पाठ 7

वैदिक साहित्य में प्रतिबिंबित समाज, राजव्यवस्था, अर्थव्यवस्था और धर्म: आर्य संबंधी प्रश्न

पाठ्य-रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 आर्य संबंधी प्रश्न

7.2.1 आर्य संस्कृति के निर्माता तथा इसका भौगोलिक विस्तार

7.3 ऋग्वेद

7.4 ऋग्वैदिक काल

7.4.1 ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था

7.4.2 ऋग्वैदिक समाज

7.4.3 ऋग्वैदिक राजव्यवस्था

7.4.4 ऋग्वैदिक धर्म

7.5 उत्तर-वैदिक काल

7.5.1 स्रोत

7.5.2 उत्तर-वैदिक लौह युग और प्रभाव

7.5.3 उत्तर-वैदिक अर्थव्यवस्था

7.5.4 उत्तर-वैदिक राजव्यवस्था

7.5.5 उत्तर-वैदिक समाज

7.5.6 उत्तर-वैदिक धर्म

7.6 उपसंहार

7.7 सारांश

7.0 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन आपको निम्नलिखित विषयों में सक्षम बनाता है:

- आर्य संबंधी मुद्दों की समझ

- वैदिक ग्रंथों में वर्णित आर्य संस्कृति की व्याख्या
- उत्तर-वैदिक कालीन समाज, राजव्यवस्था, अर्थव्यवस्था और धर्म का विश्लेषण

7.1 प्रस्तावना

वैदिक साहित्य संग्रह भारत की सबसे प्राचीन साहित्य परंपरा है। ऐसा माना जाता है कि वैदिक परंपरा में भारतीय जीवन एवं सांस्कृतिक जीवन का सार निहित है। कुछ लोग ये मानते हैं कि भारत में इतिहास, दर्शन, गणित से लेकर राजनीति तक की उत्पत्ति वैदिक स्रोतों से हुई है। तथा इन कारणों से यह भारतीयता का सुदृढ़ आधार है। वैदिक साहित्य तथा भारतीय इतिहास पर इसके प्रभाव को समझने के प्रयासों ने अनेक विवादों को जन्म दिया। इतिहास के एक विद्यार्थी के लिए अतीत के पुनर्निर्माण एवं स्थान संबंधी स्वरूप तथा साहित्य में चित्रित जनसमूहों से संबंधित प्रश्नों को समझना बहुत प्रासंगिक है।

साहित्यिक परंपरा के आधार पर निर्मित वैदिक युग की अवधारणा से भारतीय लौह युग, द्वितीय शहरीकरण तथा गंगा संस्कृति जैसे विभिन्न उपनाम भी जुड़ते जा रहे हैं। वैदिक संस्कृति की संज्ञा ऐतिहासिक विकास की मुख्य दिशा की तरफ़ संकेत करती है। यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि सिंधु घाटी के प्राचीन भारतीय शहरों को आक्रमणकारियों द्वारा ध्वस्त किए जाने की धारणा अपनी विश्वसनीयता खो चुकी है। यह सत्य है कि उपमहाद्वीप के उत्तर पश्चिम में लगभग एक हज़ार साल से चली आ रही एक उच्चस्तरीय शहरी सभ्यता 1000 ईसा पूर्व में लुप्त हो गयी।

7.2 आर्य संबंधी प्रश्न

आर्यों अथवा भारोपीय के मूल निवास स्थान तथा उनके द्वारा अनुकरण किए गए विभिन्न भागों के संदर्भ में एक दर्जन से भी ज्यादा सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं। शुरुआत में 'आर्य' पद का संबंध वैदिक तथा अस्थायी भाषा बोलने वाले जनसमूह के साथ जोड़ा गया। परन्तु धीरे-धीरे सभी भारोपीय (Indo-European) भाषाओं को बोलने वाले समूहों को आर्य माना जाने लगा। इतिहासकारों ने आर्य संस्कृति की मुख्य विशेषताओं की पहचान वैदिक, ईरानी एवं यूनानी साहित्यिक ग्रंथों तथा आद्य-भारोपीय भाषाओं में पाए जाने वाले सजातीय पदों अथवा शब्दों के आधार पर की है। वैदिक साहित्य से प्राप्त जानकारी एक इतिहासकार को भिन्न-भिन्न आर्य जनसमूहों की; लगभग 800 ईसा पूर्व (1500 ईसा पूर्व - 700 ईसा पूर्व) तक की भौतिक जीवन-पद्धति एवं संस्कृति की मुख्य विशेषताओं का पुनर्निर्माण करने में सक्षम बनाती है। इन ग्रंथों का संचार श्रुति-स्मृति परंपरा के आधार पर किया गया। चूंकि इसके प्रसार में लेखन का उपयोग नहीं हुआ इसलिए इसे अभिलिखित इतिहास की श्रेणी में नहीं रखा जाता है। ऐसी स्थिति में पुरातात्त्विक संस्कृतियों का संबंध ऐतिहासिक संस्कृतियों के साथ जोड़ना कठिन हो जाता है। ज्यादा से ज्यादा ग्रंथों में वर्णित भौगोलिक परिस्थितियों तथा लोहे के प्रयोग की शुरुआत के आधार पर पुरातत्त्व उन ग्रंथों की, जिनकी तिथि निर्धारित नहीं है, कालानुक्रमिक सीमाओं को स्थापित करने में लाभदायक सिद्ध होता है। वैदिक ग्रंथ हमारे समक्ष एक गैर शहरी तथा एक लिपिहीन समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

7.2.1 आर्य संस्कृति के निर्माता तथा इसका भौगोलिक विस्तार

आर.एस. शर्मा ने अपनी पुस्तक प्रारंभिक भारत का परिचय (अध्याय 2) में वैदिक, ईरानी तथा यूनानी साहित्यिक ग्रंथों के आधार पर आर्य-संस्कृति की मुख्य विशेषताओं की रूपरेखा प्रस्तुत की है। उन्होंने इस संदर्भ में घोड़ा और उसके घरेलू उपयोग, युद्ध-रथ, तीलीदार पहिए, गत्तावास, भोजवृक्ष की लकड़ी, दाह-संस्कार, अग्नि उपासना, पशु-बलि, अश्व-बलि (अश्वमेघ यज्ञ), सोम उपासना एवं स्वास्तिक चिह्न का वर्णन किया है।

अवस्ताई, यूनानी, लैटिन तथा दूसरे भारोपीय भाषाओं में संस्कृत शब्द अश्व एवं इसके सजातीय शब्द बार-बार पाए जाते हैं। ऋग्वेद के दूसरे से सातवें मंडलों अथवा अध्यायों में घोड़े की प्रशंसा की गयी है। लगभग सभी वैदिक देवताओं का संबंध घोड़े के साथ दिखाया गया है। सूर्य का वर्णन प्रायः द्रुतगामी घोड़ों के स्वामी के रूप में किया गया है। अवेस्ता में द्रुतगामी घोड़ों के स्वामी को विशेषण के रूप में अपाम-न्पात नामक एक देवता को संबोधित करने हेतु प्रयुक्त किया गया है जिनकी गणना एक वैदिक देव के रूप में भी की जाति है। पुरातत्त्व के आधार पर घोड़े की उपस्थिति सर्वप्रथम दक्षिण यूराल क्षेत्र में लगभग 600 ईसा पूर्व में पायी गयी है। ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी में घोड़े के अस्तित्व का प्रमाण अनातोलिया (आधुनिक तुर्की) से प्राप्त हुआ है। परन्तु प्रभावशाली रूप में घोड़ों के प्रयोग का श्रेय लगभग 1595 ईसा पूर्व बेबीलोन पर कासाइट आक्रमण को दिया जाता है। यह साक्ष्य स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित करता है कि घोड़े को पालतू बनाने का अधिकेन्द्र भारतीय उपमहाद्वीप के भौगोलिक क्षेत्र से बाहर था। इस प्रयोग का विस्तार पश्चिम से पूर्व दिशा की ओर हुआ। भारत को आर्यों का मूल निवास स्थान मानने वाले इतिहासकारों एवं पुरातत्त्वविदों ने हड़प्पाई संस्कृति को ऋग्वैदिक तथा सरस्वती नदी से जोड़कर इस संदर्भ में सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं। एस.पी. गुप्ता के अनुसार सिंधु-सरस्वती सभ्यता विकसित वैदिक सभ्यता के एक अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू को दर्शाती है। उनके तर्क के अनुसार हड़प्पा संस्कृति दोनों नदियों (सिंधु तथा सरस्वती) और खासकर सरस्वती की देन है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में सरस्वती का उल्लेख एक सर्वोत्कृष्ट नदी के रूप में मिलता है। इस संदर्भ में वास्तविक प्रश्न यह है कि सबसे पुरानी वर्णित सरस्वती नदी किसे माना जाए। क्या वह अफगानिस्तान की हेलमंड नदी है, जिसे अवेस्ता में हरखवती कहा गया है। या फिर इसका तात्पर्य घग्गर-हाकरा नदी से है। ऐसा ही प्रश्न हमें सरयू नदी के संदर्भ में मिलता है। यह संभव है कि आदिवासी एक स्थान से दूसरे तक अपने विस्थापन की प्रक्रिया में नदियों के नाम को भी अपने साथ जीवित रखते हों। आर.एस शर्मा कहते हैं कि प्रारम्भिक वैदिक संस्कृत का प्रतिरूप हमें हड़प्पा में नहीं बल्कि स्वात घाटी, गोमल घाटी तथा सीमांचल संस्कृतियों और संभवतः परिआनो घुंदाई में भी देखने को मिलता है। उनके अनुसार यह दक्षिण मध्य एशिया के ओक्सिसस सभ्यता तथा ताजिकिस्तान की संस्कृति में स्पष्ट दिखाई देता है। इन लक्षणों में परिवर्तन के तत्त्वों को नज़रअंदाज करते हुए इन कालक्रम को पीछे धकेलने का कोई भी प्रयास इसकी प्राचीनता को साबित करने की दिशा में एक असंतुलित कदम होगा। किसी ठोस प्रमाण के अभाव में यह एक कल्पित उपज मात्र रह जाएगी। अग्नि उपासना को भारोपीय संस्कृति की एक खास विशेषता माना जाता है और यह प्रथा हमें हिंद-ईरान संस्कृति में भी देखने को मिलता है। ऋग्वेद में वेदी शब्द का उल्लेख है जिसका तात्पर्य अग्निवेदी अथवा यज्ञवेदी से है। अवेस्ता में भी अग्निपूजा को महत्व दिया गया है। हड़प्पा के संदर्भ में प्राप्त अग्निवेदियाँ न तो हमारी सदियों पुरानी पारंपरिक प्रथाओं से मेल खाती है और न ही ग्रंथों में लिखित निर्देशों से। पशुबलि तथा अश्वमेघ की परंपरा भी इससे जुड़ी है। पूर्वी, मध्य, पश्चिमी तथा उत्तरी यूरोप से मिले पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर फ्रांसीसी वैदिक विद्वान लूईस रेनों अश्व बलि (अश्वमेघ) को एक भारोपीय अनुष्ठान मानते हैं। ऋग्वेद के दसवें मंडल की दो स्तुतियाँ अश्वबलि को समर्पित है जबकि उत्तर-वैदिक ग्रंथों में इस अनुष्ठान के परिवर्तित रूप अश्वमेघ की चर्चा है। भारत में अश्व-बलि के संदर्भ में पुरातात्त्विक साक्ष्य अपर्याप्त है।

7.3 ऋग्वेद

ऋग्वेद भारोपीय भाषाओं का आद्यतम उदाहरण माना जाता है। यह कवियों और ऋषियों के अनेक कुलों के द्वारा अग्नि, इंद्र, मित्र, वरुण, सोम और अन्य देवताओं की स्तुतियों का संग्रह है। यह दस मंडलों अथवा ग्रंथों का संकलन है जिसमें दो से सात मंडल इसके आद्यतम भाग हैं और कुल-ग्रंथ (family books) कहलाते हैं। मंडल एक और दस इसके सब से बाद के भाग जान पड़ते हैं। दसवां मंडल, जिसे पुरुष सूक्त कहा जाता है, इसका अंतिम भाग है और वास्तव में मूल ऋग्वेद का अंश नहीं है। कुल-ग्रंथ में शुद्ध रूप में वैदिक अथवा आर्य परंपराएँ नहीं हैं। इन ग्रंथों में भी

वैदिक और गैर-वैदिक परंपराएँ मिली-जुली हैं। मंडल III जो विश्वामित्र द्वारा रचित माना जाता है, सांस्कृतिक विशेषताओं के इस तालमेल का अच्छा उदाहरण है।

ऋग्वेद की अनेक बातें जेंद अवेस्ता, जो ईरानी भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ है, से मिलती-जुलती हैं। दोनों ग्रंथ अनेक देवताओं और सामाजिक वर्गों के लिए एक ही नाम का उपयोग करते हैं। ऋग्वेद के आरंभिक अंश का भौगोलिक वितरण सात नदियों के देश (सप्त सैंधव प्रदेश) को माना गया है। यह क्षेत्र अधिकांशतः पंजाब का है, लेकिन इसका तिथि-निर्धारण उतना आसान नहीं है। आर्यों के स्थल और उनकी प्राचीनता के संबंध में अनेक सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं। चूंकि आर्य अपने घर काष्ठ अथवा मिट्टी के बनाते थे अतः उष्णकटिबंधीय क्षेत्र में उनके अवशेषों की पहचान कठिन है। ऐसा कहा जाता है कि आर्य लोग ताम्र या कांस्य से सजे युद्ध के रथों और अश्वों का उपयोग करते थे। लेकिन पुरातात्त्विक खुदाइयों से उनके वाहनों का पता नहीं चल सका है। स्टुअर्ट पिग्गाट ने यूराल में कांस्य युग की ऐसी पांच कब्रों का उल्लेख किया है जहाँ गाड़ी अथवा रथ किस्म के हलके काष्ठ-निर्मित वाहन मौजूद थे। उनकी तिथियाँ ईसा से 1500 वर्ष पूर्व बताई गयी हैं। दानी ने ईसा के 1800 वर्ष पूर्व के आस-पास पश्चिम एशिया में अश्व-चालित रथों के उपयोग की चर्चा की है। भारतीय उपमहादेश में गांधार की कुछ क़ब्रों में ईसा के 2000 वर्ष पूर्व के अश्व-अवशेष मिले हैं। इराक में ईसा के लगभग 1400 वर्ष पूर्व के मितानी शिलालेखों और लगभग 1600 वर्ष पूर्व के कासाइट शिलालेखों में उल्लिखित कुछ नामों को ऋग्वेद के तिथि-निर्धारण का मुख्य ज़रिया माना गया है। भगवानपुरा (ज़िला- कुरुक्षेत्र), दधेरी (ज़िला- लुधियाना), काटपालन और नागर (ज़िला- जालंधर) के चार स्थलों की बहुचर्चित खुदाईयों को भी ऋग्वेद के कालक्रम के निर्धारण में ध्यान में रखा गया है। इन स्थलों की निर्धारित तिथियाँ ईसा पूर्व 1500 से 1300 से बीच की हैं जो ऋग्वेद की निर्धारित तिथि से मेल खाती हैं।

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. सही गलत बताएँ:

(i) शुरुआत में 'आर्य' का संबंध भारोपीय भाषा बोलने वाले जनसमूह के साथ जोड़ा गया।

(ii) कुछ इतिहासकार अश्व को आरंभिक आर्य संस्कृति का अनिवार्य चिह्न या संकेत मानते हैं।

(iii) घग्गर-हकरा को आद्यतम सरस्वती नदी माना गया है।

(iv) ऋग्वेद और प्राचीनतम ईरानी ग्रंथ जेंद-अवेस्ता की कई बातें समान हैं।

ख. रिक्त स्थान भरें:

(i) पुरातात्त्विक साक्ष्य प्रमाणित करते हैं कि ..... को पालतू बनाने का अधिकेन्द्र भारतीय उपमहाद्वीप के भौगोलिक क्षेत्र से बाहर था।

(ii) ..... भारोपीय भाषाओं का आद्यतम उदाहरण माना जाता है।

(iii) यह दस मंडलों अथवा ग्रंथों का संकलन है जिसमें ..... से ..... मंडल इसके आद्यतम भाग हैं और कुल-ग्रंथ (family books) कहलाते हैं।

(iv) ऋग्वेद के आरंभिक अंश का भौगोलिक विवरण ..... को माना गया है।

(v) मंडल III जो ..... द्वारा रचित माना जाता है, सांस्कृतिक विशेषताओं के इस तालमेल का अच्छा उदाहरण है।

7.4 ऋग्वैदिक काल

कुछ इतिहासकारों का मत है कि आर्य भारत में कई खेपों में आए। उनके पहले दौर में ऋग्वेद कालीन लोग आते हैं जो ईसा के लगभग 1500 वर्ष पूर्व इस उपमहादेश में आए। उनका यहाँ के दास, दस्यु इत्यादि कहे जाने वाले मूल निवासियों से संघर्ष हुआ। वे आरंभिक आर्यों की एक शाखा जान पड़ते हैं। ऋग्वेद के युद्ध-देवता इंद्र ने दासों, दस्युओं और पणियों के विरुद्ध युद्ध में आर्यों का नेतृत्व किया। दस्यु भारत के आरंभिक निवासी जान पड़ते हैं और एक आर्य सरदार जिसने उन पर विजय प्राप्त की उन्हें त्रासदस्यु कहा गया। लेकिन दस्यु ईरानी भाषा के दह्यु से मेल खाता है। एमिल बेंवेनिस्त का विश्वास है कि दस्यु-हत्या पद का प्रयोग बार-बार होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वे वैदिक लोंगों के घोर दुश्मन रहे होंगे। ईरानी साक्ष्य इसके विपरीत जाता है। संभवतः दस्यु अथवा दह्यु हिंदूकुश को पार करने वाले सबसे आरंभिक दौर के रहे होंगे। यह सुविदित तथ्य है कि आपसी और बाहरी जनजातीय संघर्षों ने आर्य समुदायों को एक लंबी अवधि तक अस्त-व्यस्त कर रखा था। मंडल VII में वर्णित रावी नदी पर दस राजाओं की लड़ाई एक प्रसिद्ध घटना है। भरतवंश के शासन का विरोध दस राजाओं के समूह ने किया था जिनमें पांच आर्य जनजातियों के और शेष गैर-आर्य लोगों के सरदार थे। इस प्रसिद्ध लड़ाई में सुदास की विजय हुई और भरतवंशियों ने अपना प्रभुत्व क़ायम कर लिया। पराजित आर्य जातियों में पुरु सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। धीरे-धीरे भरतवंशियों ने पुरुओं के साथ हाथ मिला लिया और दोनों ने मिलकर कुरु नाम से ज्ञात एक प्रसिद्ध शासक जाति बना ली। उत्तर-वैदिक काल में कुरुओं ने पांचालों को अपने साथ कर लिया और दोनों मिलकर ऊपरी गंगा घाटी में शासन करने लगे। इस कहानी के अतिरिक्त वैदिक जातियों और ग़ैर-वैदिक जातियों के बीच संघर्ष के अन्य अनेक वृत्तांत मिलते हैं। लेकिन आर.एस. शर्मा मानते हैं कि कुछ भारतीय और विदेशी विद्वानों द्वारा आर्यों और अनार्यों के बीच के संघर्षों को दी गयी अभिव्यंजना अनावश्यक है। वे यह भी मानते हैं कि तीन दशकों की श्रम-साध्य खुदाई के बावजूद ऋग्वैदिक समाज और उत्तर-पश्चिम भारत के मूल निवासियों के बीच बड़े पैमाने पर संघर्ष के प्रमाण नहीं मिल पाए हैं।

7.4.1 ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था

ऋग्वेद के सावधानीपूर्वक अध्ययन से संकेत मिलता है कि उस काल की अर्थव्यवस्था मुख्यतः पशुचारी थी। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक विकास के क्रम में यायावरी और पशुचारिता कृषक समाज की पूर्ववर्ती अवस्थाएँ थीं। उपमहादेश के उत्तर-पश्चिम भाग से संबद्ध पुरातात्त्विक साक्ष्य इससे भिन्न कहानी का संकेत देते हैं। तथापि, कुल-ग्रंथ ऋग्वैदिक समाज को मुख्य रूप से पशुचारी ही बतलाते हैं। जंगली जानवर (मृग) पालतू जानवरों (पशु), जो प्रत्यक्षतः आहार और दुग्ध उत्पादों के लिए महत्वपूर्ण थे, से पृथक किए गए हैं। गाय ऋग्वैदिक जनों की सबसे प्रिय पशु थी। यह पशुओं में सर्वोत्कृष्ट थी। आरंभिक आर्यों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस पशु का अनन्य स्थान था। ऋग्वेद के कुल-ग्रंथों में 'गौ' पद का प्रयोग 176 बार हुआ है। पशुओं को धन का पर्याय माना जाता था और धनी आदमी को 'गोमत' के नाम से जाना जाता था। गवषिट, गोसु, गवयत, गव्यु, गवेषण, गव्युति और गोत्र जैसे पद जो ऋग्वैदिक जनसमाज के पशुपालन और समाजिक संगठन के अनेक पक्षों को समाहित करते हैं, ऋग्वेद के आरंभिक अंशों में बार-बार प्रयोग में आते है। भैंस को भी गौरी-गवल की संज्ञा दी गयी। आर्य पारिवारिक जीवन में गौ के महत्व का ज्ञान बेटी के लिए 'दुहित्र' शब्द के प्रयोग से भी होता जिसका अर्थ है- वह जो दूध देती है।

अश्व आरंभिक आर्यों द्वारा पाला गया दूसरा महत्वपूर्ण पशु था। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है- यह आर्य संस्कृति का एक अन्य अपरिहार्य संकेत है। घोड़ा के लिए प्रयुक्त अश्व और इसके सजातीय पद संस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन और अन्य यूरोपीय भाषाओं में बहुधा प्रयोग में आए हैं। मार्टन स्मिथ ने अपने प्रसिद्ध लेख 'नाम में क्या रखा है (प्राचीन भारत में)?' में बतलाया है कि प्राचीन ग्रंथों में, विशेषकर वैदिक और अवेस्ताई ग्रंथों में अनेक नाम अश्व-

आधारित हैं। उन्होंने इन ग्रंथों में उल्लिखित ऐसे 50 अश्वों और 20 रथों के नाम गिनाए हैं। ऋग्वेद में अश्व और इसके पर्याय 215 बार आए हैं। 'गौ' और 'वृषभ' पद भी क्रमश: 176 और 170 बार प्रयुक्त हुए हैं। पर ऐसा मालूम होता है कि ऋग्वैदिक पशुपालक समाज में अश्वारोही कबीले के प्रधानों की प्रभुता बनी हुई थी। ऋग्वेद के दो विस्तृत स्तोत्रों में अश्व की प्रशंसा की गयी है। इस शक्तिशाली और शानदार पशु से जुड़े बिना कोई देवता नहीं रह सकते थे। इन्द्र और उनके साथी मरुत इत्यादि प्रायः युद्धों और क्रीड़ाओं में अश्व पर सवार दिखलाए गए हैं।

अनेक भारोपीय भाषाओं में पशु और चारागाह के लिए समान पदों का उपयोग एक रोचक तथ्य है। स्लाविक में पसित और सर्बो-क्रोशियन, बहमनी, रूसी और पोलिश में इसके सजातीय पदों का उपयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रूमानी और ऋग्वेद के ग्रंथों में 'पसित' और 'पस्ते' पद प्रयुक्त हुए हैं। आर.एस. शर्मा के अनुसार ऋग्वेद में पस्त्य 18 बार प्रयोग में आया है। इस पद के कई रूप हैं: जैसे- पस्त्य, पस्त्यसद, पंस्त्यवत, पस्त्यवती और पस्त्यवान। ऋग्वेद के आरंभिक अंश में व्रज पद का बारंबार प्रयोग भी लोगों के पशुचारी जीवन का संकेत देता है। व्रज का अर्थ है गौशाला। यह पद अपने विभिन्न रूपों में ऋग्वेद में 45 बार आया है।

दुर्भाग्यवश, ऋग्वैदिक कालीन लोगों के प्रमुख पशुचारी जीवन का पुरातात्त्विक साक्ष्य अत्यंत सीमित है। यदि हम चार महत्वपूर्ण पुरातात्त्विक स्थलों - भगवानपुरा, दधेरी, काटपालन और नागर - को वैदिक भौतिक संस्कृति का प्रतिबिंबक मानते हैं तो पशु-अस्थियों की प्राप्ति से पशुचारी जीवन की झलकियाँ मिलती हैं। भगवानपुरा और दधेरी में अच्छी मात्रा में पशु-अस्थियाँ पाई गयी हैं।

इनमें मवेशियों एवं भेड़-बकरियों की जली हड्डियाँ शामिल हैं। स्पष्ट है कि ये उनके भोजन का हिस्सा थे क्योंकि उनकी हड्डियों पर तीखे काट के निशान मिले हैं। साहित्यिक स्रोतों से भी ज़ाहिर होता है कि इन पशुओं को दूध और मांस के लिए पाला जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक लोग कृषि की जानकारी रखते थे। ऋग्वेद में कृषि कार्यों का उल्लेख 21 बार हुआ है, लेकिन इसके कुल-ग्रंथों में इसकी चर्चा कम हुई है। कृष (जोतना, कृषि करना) पद सिर्फ इसके सार अंश में आया है। कृष्टि पद ऋग्वेद में 33 बार आया है लेकिन यह जनसमाज के लिए प्रयुक्त हुआ है और पांच जनसमुदाय (पंचकृष्टय:) का प्रयोग दो बार हुआ है। लोकप्रिय पद हल का प्रयोग ऋग्वेद में नहीं हुआ है लेकिन आरंभ के मंडलों में लांगल और सीर शब्द आए हैं। फल अथवा फाल और हल-रेखा (सीता) का उल्लेख मंडल IV में हुआ है, जहाँ कृषि संचालन पर एक पूरा स्तोत्र ही मिलता है। लेकिन यह ग्रंथ ऋग्वेद का पिछला अंश माना जाता है। प्राक-हड़प्पा काल की हल-रेखाओं के चिह्न कालीबंगा में पाए गए हैं और प्राक-आर्य चलन संभवतः वैदिक लोगों द्वारा अंगीकार कर लिया गया होगा। कहा जाता है कि ऋग्वेद में वर्णित ये हल शायद काष्ठ निर्मित थे जिनका उपयोग पंजाब की सात नदियों में बाढ़ के कारण उर्वर बन गयी जमीनों को जोतने के लिए किया जाता था। यद्यपि आरंभिक काल के आर्य बुआई, कटाई और दौनी से परिचित तथा विभिन्न ऋतुओं के जानकार प्रतीत होते हैं लेकिन उत्पादन के उनके आदिम साधन उन्हें बड़ी संख्या में लोगों के भरण-पोषण में सक्षम नहीं बना सकते थे। ऋग्वेद के युग में जौ (यव) की खेती होती थी। जौ जल्दी पकता है और उसके लिए अधिक बारिश की ज़रूरत नहीं होती। इसका उपयोग शायद आहार और चारा दोनों रूपों में होता था। वैदिक लोग कुछ अन्य मोटे अनाज भी उपजाते थे लेकिन वे निश्चय ही चावल (व्रीहि) उपजाना नहीं जानते थे। अतः विभिन्न प्रकार की फ़सलों को उपजाने की जानकारी की कमी और आदिम कृषि तकनीकी के कारण वे मूलतः एक कृषक समाज का रूप नहीं धारण कर सके।

7.4.2 ऋग्वैदिक समाज

ऋग्वेद के आरंभिक अंश में व्र, व्रत, व्रज, श्रद्धा, ग्राम जैसे चर्चित पदों की व्याख्या ऋग्वैदिक युग में टोली प्रणाली के

संकेतक के रूप में की गयी है। दावा किया जाता है कि ये पद ऋग्वैदिक लोगों की जीविका के दो महत्वपूर्ण साधनों से संबद्ध थे। इन दो साधनों में एक था लड़ाई जिस का अर्थ था लूट के सामान पर नियंत्रण और दूसरा था पशु-पालन जो उन्हें दुग्ध उत्पाद और आहार प्रदान करता था। ऐसा झुंड शायद जीविका की लड़ाई के लिए बना था और जब इसका स्वरूप स्थायी हो गया तो यह संभवतः कुटुंबी समूह माना जाने लगा। आर.एस. शर्मा का मत है कि ऋग्वेद के कतिपय उल्लेख यद्यपि टोली प्रणाली की उत्तरजीविता का संकेत तो देते हैं लेकिन कुल मिलाकर ऋग्वैदिक समाज में जनजातीय तत्त्व प्रबल थे। वे यह भी मानते हैं कि जन, विश, गण, ग्राम, गृह, कुल, व्रत जैसे विविध पद, जो कुटुंब-आधारित इकाइयों के सूचक हैं, के बारंबार प्रयोग से आरंभिक वैदिक समाज में मज़बूत जनजातीय तत्त्वों का संकेत मिलता है। ऋग्वेद में जन का प्रयोग 275 बार, विश का 171 बार और ग्राम का प्रयोग 13 बार हुआ है। रोमिला थापर भी इन पदों की ऐसी व्याख्या से सहमत हैं। परंतु वह ऋग्वैदिक समाज के कुटुंब-आधारित, वंश-आधारित अथवा खंडित रूप पर अधिक बल देती हैं। सामाजिक मानव-विज्ञानियों के अनुसार जनजाति वंश-आधारित अथवा खंडित समाज की सबसे बड़ी इकाई है और रिश्तेदारी उन्हें एक सूत्र में बांधने वाला बंधन है।

इमैन्युअल टेर्रे और मार्केल मौस जैसे कुछ सामाजिक मानव-विज्ञानियों ने जनजातीय समाज में पुनर्वितरण के प्रचलन की खोज की है। रोमिला थापर ने वैदिक काल में इस प्रणाली के प्रचलन की विस्तार में जांच-पड़ताल की है। वह कहती हैं कि वैदिक समाज के जनजातीय दौर में दान और दक्षिणा की पद्धति आर्थिक विनिमय के रूप में क्रियाशील थी। कुछ अन्य भारतीय विद्वानों ने भी ऋग्वैदिक युग के एक काल-खंड में वितरण और पुनर्वितरण के प्रचलन की छान-बीन की है। युद्ध के लूटे गए माल अथवा उपहार और समय-समय पर पाए गए नज़राने निश्चय ही पुनर्वितरित कर दिये जाते थे। इनमें प्रमुख थे- पशु, भेड़, बकरी, अश्व, हथियार और सबसे बढ़कर दासियां। नारिययाँ युद्ध में लूटे गए सामानों का महत्वपूर्ण हिस्सा थी।

ऋग्वेद में आरंभिक काल के आर्यों के यायावरी या प्रवासी स्वरूप का संकेत प्रवेश करने व बसने के अर्थ में 'विश' पद के प्रयोग से मिलता है। 'विश' पद से क्रिया बनाने हेतु उसमें विश, उपविश, निविश, पुनर्विश, प्रविश इत्यादि उपसर्ग जोड़ने से भी ऋग्वैदिक जनजातियों के प्रवासी स्वरूप का संकेत मिलता है। प्रधान रूप से एक पशुचारी अथवा पशुपालक समाज में ऐसी आदतें स्वाभाविक परिघटना हैं।

ऋग्वैदिक समाज में महिलाओं की स्थिति

ऋग्वैदिक समाज में महिलाओं की क्या स्थिति थी? यह सही है कि उनकी हैसियत के संबंध में लगातार स्तुतिगान किए गए हैं किन्तु वास्तविकता इतनी सरल नहीं मालूम पड़ती। 'दुहित्र' पद प्रजनन-प्रक्रिया में नारियों की भूमिका का सूचक है। बुनाई संबंधी क्रियाकलाप में नारियों की भूमिका का बारंबार उल्लेख भी इस तर्क को पुष्ट करता है। ऋग्वेद में सानूगी नामक एक महिला वितरक का भी उल्लेख है। साथ ही, हमें वैदिक स्रोतों के महिला द्रष्टाओं की चर्चा भी उपलब्ध है। बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी। 'दंपति' पद की व्याख्या पत्नी और पति के बीच घरेलू संपत्ति की समान हिस्सेदारी के रूप में की गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक समाज के आरंभिक काल में नारियों को उचित सम्मान मिलता था। इसका कारण था समाज की उत्पादक प्रणाली में उनकी भूमिका। लेकिन आगे चलकर समाज का संगठन पितृसत्तात्मक होने लगा। पुत्रों विशेषकर वीर पुत्रों अथवा प्रजा की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाओं का उल्लेख तो मिलता है लेकिन पुत्रियों की प्राप्ति के लिए नहीं। दैवी स्तर पर पुरुष का देवत्व प्रमुख होता गया। इंद्र के पुंसत्व अर्थात पुरुषत्व की काफी प्रशंसा की गई है। कुछ उदाहरण शायद मातृवंशीय चिह्नों के भी संकेत देते हैं और कुछ उदाहरण ऐसे पुत्रों के भी हैं जिनके नाम उनकी माताओं के आधार पर रखे गए हैं जैसे मामतेय। ऐसा प्रतीत होता है आरंभिक काल के आर्यों ने अनार्यों से यह चलन ग्रहण किया होगा।

श्रम आधारित विभाजन

ऋग्वैदिक समाज ने जिसका स्वरूप मुख्यतः पशुचारीय और जनजातीय था, और जो अतिरिक्त उत्पादन नहीं कर सकता था, वर्ग विभेदीकरण की शर्तें नहीं पैदा की। पदों का विभेदीकरण अवश्य हुआ जैसा कि जनजातीय सरदारों की उपाधियों, विशपति, विशंपति, जनस्य, गोप, गणस्य, राजा, गणनाम, गनपति इत्यादि से जाना जा सकता है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध दानसूती मंडल के आधार पर यह मानना सही है कि कम से कम उस स्तर में निरूपित समाज पूर्णतः समतावादी नहीं था लेकिन जनजातियों के श्रम पर निर्वाह करने वाले उच्च वर्ग का अभ्युदय शुरू हो रहा था। दसवें मंडल में पुरुष सूक्त में वर्णित अनुष्ठानिक और सैद्धांतिक अनुसमर्थन बहुत बाद के दौर में आया। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि पेशे पर आधारित विभाजन शुरू हो गया था। लेकिन यह विभाजन प्रारंभिक अवस्था में था। एक परिवार के एक सदस्य का वह कथन प्रसिद्ध है जिसमें वह कवि होने का दावा करता है, उसका पिता चिकित्सक है और उसकी मां पीसने वाली है। विविध तरीकों से जीविका कमाते हुए वे सब एक साथ रहते हैं। ऋग्वेद में ब्राह्मण की चर्चा 14 बार और क्षत्रिय की 9 बार हुई है। लेकिन इसमें अधिकांश का उल्लेख ऋग्वेद के अंतिम अंशों में पाया जाता है। शूद्र की चर्चा प्रथम एवं अंतिम बार ऋग्वेद के दसवें मंडल में हुई है। इस प्रकार उत्पादन की शोषणात्मक विधि पर आधारित वर्ण-व्यवस्था की अवधारणा ऋग्वैदिक समाज में नहीं पायी जाती है। हम घरेलू दासों की चर्चा तो पाते हैं किंतु वेतन भोगी अथवा भिखारियों की नहीं। समाज में जनजातीय लक्षण अधिक प्रधान और प्रभावशाली थे। करों की वसूली अथवा भूसंपत्ति पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण का पूर्ण अभाव था। उत्पादन-तंत्र पर भारी दबावों के कारण समाज अभी भी जनजातीय और बहुत हद तक समता मूलक था।

7.4.3 ऋग्वैदिक राजव्यवस्था

दुर्भाग्यवश, हम ऋग्वैदिक काल के प्रशासन-तंत्र की कोई स्पष्ट तस्वीर नहीं पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि नृप अथवा राजन प्रशासनिक अथवा राजनीतिक सत्ता का अधिकेंद्र था। इसका मुख्य कारण था युद्ध में उसके गोत्र की सफलता में उसकी अहम भूमिका। ऋग्वेद के कुछ आरंभिक अंश दर्शाते हैं कि राजा का चयन युद्ध में उसकी भूमिका और अन्य सदगुणों के कारण होता था। लेकिन आगे चलकर यह पद वंशानुगत हो गया। फिर भी राजा को असीमित शक्ति के उपयोग की अनुमति नहीं थी। लोकप्रिय जनजातीय संगठन समिति उसके क्रियाकलाप को नियंत्रित करती थी। उसके मुख्य कर्तव्य थे- अपनी जनजाति की रक्षा करना, इसके पशुओं की रक्षा करना, इसके लिए युद्ध लड़ना और अपने संपूर्ण जनजातीय समुदाय की ओर से देवताओं की प्रार्थना करना।

ऋग्वेद में हम सभा, समिति, विदथ, गण आदि नाम के जनजातीय अथवा गोत्र आधारित संगठनों का उल्लेख पाते हैं। ये सभाएँ विचारात्मक, सैनिक और धार्मिक क्रियाओं का संचालन करती थीं। विदथ नामक सभा वितरण और पुनर्वितरण के लिए एक श्रेष्ठ जनजातीय राजनीतिक-आर्थिक संगठन के रूप में कार्य करती थी। कभी-कभार महिलाएँ इस संगठन के कार्य-निष्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। लेकिन ऐसे संगठनों में सभा ओर समिति सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। कभी-कभार महिलाएँ भी सभा में शामिल होती थी। ये दोनों संगठन इतने शक्तिशाली और प्रतिष्ठित थे कि सरदार अथवा राजा उनके सदस्यों का समर्थन पाने के लिए हमेशा उत्सुक रहता था। ऐसा लगता है कि सभा में कुछ सम्मानित और बुद्धिमान गुरुजनों का प्रतिनिधित्व होता था और यह मुख्य रूप से सामाजिक और धार्मिक समस्याओं से निपटती थी। समिति सर्वाधिक शक्तिशाली जनजातीय संगठन थी जो प्रशासकीय और राजनीतिक कार्यों का निष्पादन करती थी।

रोजमर्रा के प्रशासनिक कार्य में सहायता देने के लिए कुछ पदाधिकारी होते थे। इनमें पुरोहित सर्वाधिक महत्वपूर्ण पदाधिकारी था। ऋग्वैदिक काल के दो पुरोहितों वशिष्ठ और विश्वामित्र से हम सुपरिचित हैं। उनका मुख्य कार्य था

जनजातीय सरदार को युद्ध के लिए प्रेरित करना। वे सरदार के बड़े कारनामों की प्रशंसा करते थे और बदले में पशु, धातु, वस्त्र और दासियाँ पाते थे। सेनानी एक अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी था जो युद्ध में भालों, कुठारों, तलवारों इत्यादि का उपयोग करता था। लेकिन हम कर संग्रह करने वाले किसी प्रशासकीय पदाधिकारी का उल्लेख नहीं पाते हैं। संभवतः राजन या सरदार लोगों से स्वैच्छिक उपहार पाते थे जिसे बलि कहा जाता था। बलि अपने गण के विश और पराजित विरोधी दोनों से प्राप्त होता था। कहा जाता है कि देवता चढ़ावे से प्रसन्न होने पर उपासक को उसकी इच्छानुसार पशु, घोड़े, पुत्र, आक्रमण में विजय इत्यादि प्रदान करते थे।

वेद में न्याय-व्यवस्था के लिए किसी पदाधिकारी का उल्लेख नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि ऋग्वैदिक समाज चोरी, सेंधमारी और अन्य छोटे-मोटे अपराधों से मुक्त था। चोरी की चर्चा हम अकसर पाते हैं। राजा के पास कोई नियमित सेना नहीं होती थी लेकिन युद्ध के समय में वह एक नागरिक सेना इकट्ठा कर लेता था जिसके सैन्य-कार्य व्रत, गण, ग्राम, श्रद्धा इत्यादि विभिन्न जनजातीय समूहों के द्वारा संचालित किए जाते थे। ये कहना सही है कि ऋग्वैदिक समाज एक जनजातीय शासन तंत्र था जिसमें सैन्य तत्त्व सर्वाधिक प्रभावशाली थे। नागरिक-तंत्र और प्रादेशिक प्रशासन के अभाव की मुख्य वजह थी ऋग्वैदिक काल के लोगों की यायावरी जीवन पद्धति।

7.4.4 ऋग्वैदिक धर्म

ऋग्वैदिक धर्म अपने भारी जनजातीय परिवेश से विकसित हुआ। आरंभ के आर्य वर्षा के आगमन, सूर्य और चांद के प्रकट होने और नदियों तथा पर्वतों की उपस्थिति की व्याख्या करने में सक्षम नहीं थे। इसलिए इन प्राकृतिक शक्तियों का उन्होंने मानवीकरण कर दिया और इनमें मनुष्य अथवा पशु के गुण आरोपित कर दिए। अनेक कुल के परिवार उनके सम्मान में प्रार्थनाएँ करते थे। ऋग्वेद का सबसे महत्वपूर्ण देवता इंद्र है। उसे पुरंदर अथवा दुर्ग-विध्वंसक भी कहा जाता है। अग्रणी मार्क्सवादी इतिहासकार डी.डी. कोशांबी के अनुसार ऋग्वेद-कालीन आर्यों ने इस युद्ध देवता के दैवी नेतृत्व में हड़प्पा के नगरों के किले ध्वस्त किए। उसने पाणियों और अन्य दैत्यों के विरूद्ध आर्यों को विजय दिलाई। उसका वर्णन 250 सूक्तों में किया गया है। उसे वर्षा का देवता भी माना गया है। आगे चलकर इसी देवता के कोप से हुई अति वृष्टि की तबाही से कृष्ण ने मथुरा की रक्षा की। तब तक उनकी महिमा नष्ट हो चुकी थी लेकिन वर्षा के देवता के रूप में उनकी हैसियत बरकरार थी।

ऋग्वेद में वर्णित अग्नि दूसरा सबसे महत्वपूर्ण देवता है। जंगल जलाने और खाना पकाने जैसे कार्यों के कारण अग्नि ने आदिम लोगों के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अग्नि-पूजा का भारत में ही नहीं, ईरान में भी काफी प्रचलन था। ऋग्वेद में इस देवता पर 200 सूक्त हैं। वैदिक काल में अग्नि देवताओं और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ का काम करता था। ऐसा माना जाता था कि अग्नि को दिया अर्घ्य धुआं के रूप में आकाश-मार्ग से देवताओं तक पहुंच जाता है। अग्नि मसृण पीठ और मुख का मृदुभाषी देवता है। वह आकाश का गरुड़ और दैवी पक्षी है। उसकी लपटें सागर की गरजती लहरों जैसी है। सामान्य तौर पर अग्नि को काष्ठ में उत्पन्न पौधों के भ्रूण अथवा पौधों में वितरित माना जाता है। अग्नि का पार्थिव अस्तित्व उसे पृथ्वी की नाभि कहे जाने से भी सूचित होता है। अग्नि की स्तुति और पूजा वरुण, मित्र, मरुत और सारे देवता करते हैं।

वरुण ऋग्वेद के सबसे महान देवता इंद्र का सहचर माना गया है। इस देवता के प्रति दो दर्जन स्तोत्र समर्पित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में इस देवता को तीसरा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वरुण जल का मानवीकृत रूप है। ऐसा माना गया है कि वरुण प्राकृतिक व्यवस्था का पोषक है और विश्व में जो भी होता है वह उसकी इच्छाओं को प्रतिबिंबित करता है। सोम पेड़-पौधों का देवता माना गया है और एक मादक पेय के साथ उसका नाम जुड़ा हुआ है। 114 सूक्त उसके प्रति समर्पित हैं। सोमयज्ञ ऋग्वेद के अनुष्ठान की मुख्य विशेषता है। जब इन्द्र ने इसे पी लिया तो उसके-

फलस्वरूप आसमान में सूर्य का उदय हुआ। व्युत्पत्ति की दृष्टि से सोम-होम का अर्थ है निचोड़ा हुआ रस।

मरुत पवन का मानवीकृत रूप है। इस देवता का वर्णन 33 सूक्त में हुआ है। मरुत देवी रोदासी से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। वह मरुत की सुंदर दुल्हन मानी गयी है। इस प्रकार ऋग्वेद बड़ी संख्या में देवताओं का उल्लेख करता है जो किसी न किसी रूप में प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं लेकिन उनमें मानवीय गुण भी आरोपित किए गए हैं।

ऋग्वेद अनेक देवियों - उषा, अदिति, सूर्या इत्यादि का उल्लेख करता है। उषा प्रातः की देवी है। ऋग्वेद के 20 सूक्तों में उसका स्तुतिगान किया गया है और 300 से अधिक बार उसकी चर्चा हुई है। लेकिन ये देवियाँ ऋग्वैदिक काल में उतनी प्रमुख नहीं थीं। देवता ही ऋग्वैदिक समाज के धार्मिक क्षितिज पर छाए हुए थे।

देवताओं की पूजा-प्रार्थना के सस्वर पाठ और बलिदान के द्वारा होती थी। प्रार्थनाएँ सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार की होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि देवताओं की प्रार्थनाएँ संपूर्ण जनजाति के सभी सदस्यों के द्वारा समवेत रूप में की जाती थी। ऋग्वैदिक जनजातीय समाज देवताओं की पूजा अपने आध्यात्मिक उत्थान अथवा जीवन के कष्टों को दूर करने के लिए नहीं करता था। वे जीवन के प्रत्येक अंश का आनन्द लेना चाहते थे। इस आनंद-उपभोग के लिए उन्हें प्रजा (संतान), पशु (मवेशी), भोजन, संपत्ति और स्वास्थ्य की आवश्यकता थी। जटिल धार्मिक अनुष्ठानों और शब्दों की जादुई शक्ति की आवश्यकता उत्तर-वैदिक युग के समाज को थी।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. निम्नलिखित के नाम बताएँ

(i) मुख्यतः आदि वैदिक काल से संबंधित वेद

(ii) भरत और पुरु वंशियों द्वारा स्थापित एक नई प्रशासी जनजाति

(iii) ऋग्वैदिक लोगों का सबसे प्रिय पशु (घोड़ा के अतिरिक्त)

(iv) ऋग्वैदिक युग में राजनीतिक सत्ता या प्रशासन का अधिकेन्द्र

(v) प्रकृति की व्यवस्था के पोषक ऋग्वैदिक देवता

ख. संक्षिप्त टिप्पणी करें:

(i) ऋग्वैदिक समाज में नारियों का स्थान

(ii) आरंभिक वैदिक धर्म

7.5 उत्तर-वैदिक अवस्था

7.5.1 स्रोत

उत्तर-वैदिक काल का इतिहास ऋग्वेद युग के बाद संकलित वैदिक ग्रंथों और चित्रित धूसर मृदभांड के दौर की पुरातात्त्विक सामग्रियों के अध्ययन से प्राप्त तथ्यों पर आधारित है। इस काल के मुख्य साहित्यिक स्रोत हैं- संहिताएँ जो वैदिक सूक्तों के संग्रह हैं।

साहित्यिक स्रोत

सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद मिल-जुलकर उत्तर-वैदिक संहिताओं का निर्माण करती

हैं। संगीत-धुनों पर आधारित सामवेद संभवतः आर्यों की सबसे पुरानी काव्य-कृति है। इस वेद में ऋग्वेद की प्रार्थनाओं को गायन के उद्देश्य से धुन प्रदान किए गए। यजुर्वेद में सूक्तों के अतिरिक्त अनेक अनुष्ठानों के लिए विस्तृत और जटिल सूत्र दिए गए हैं। ये अनुष्ठान न सिर्फ धार्मिक रिवाजों पर प्रकाश डालते हैं अपितु उस सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि को भी प्रतिबिंबित करते हैं जिनमें ये रिवाज पैदा हुए और फले-फूले। अथर्ववेद वैदिक और अवैदिक सामासिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें विपत्तियों और बीमारियों से बचाव के लिए तंत्र-मंत्र और जादू-टोने का वर्णन है। इस वेद का प्रसिद्ध पृथ्वी सूक्त प्रजनन-मत के अवैदिक प्रचलन और मातृवंशीय विशेषताओं को उजागर करता है। वैदिक संहिताओं के बाद ब्राह्मण के नाम से ज्ञात ग्रंथमालाओं की रचना होती है। ये ब्राह्मण उत्तर-वैदिक युग के अमूल्य साहित्यिक स्रोत हैं। उनमें निरूपित अनुष्ठानिक सूत्र अपने समय के न सिर्फ सामाजिक-धार्मिक कृत्यों का वर्णन करते हैं अपितु तत्कालीन आर्थिक क्रियाकलाप पर भी प्रकाश डालते हैं। आरण्यकों की रचना संभवतः उन वैदिक ऋषियों के द्वारा हुई जो अपने जीवन के चौथे चरण में जंगलों में रहते थे। उनके प्रथम तीन चरणों के जीवन में झेले गए कटु-मधु अनुभवों का वर्णन भी आरण्यकों में मिलता है। उपनिषद उत्तर-वैदिक आर्यों के जीवन के तत्त्व के मीमांसीय पक्षों का वर्णन करती हैं। सुविज्ञ और जटिल दार्शनिक विवाद और विवेचन इन ग्रंथों के मुख्य विषय हैं। ये सारे वैदिक ग्रंथ सिंधु-गंगा के विभाजक क्षेत्र और गंगा की ऊपरी घाटी में ईसा के लगभग 1000-600 वर्ष पूर्व संकलित किए गए। इन के भौगोलिक विस्तार में पश्चिमी उत्तर प्रदेश का बड़ा हिस्सा, संपूर्ण हरियाणा और पड़ोस के पंजाब और राजस्थान के हिस्से शामिल हैं। ऐसा माना जाता है कि जलवायु के दृष्टिकोण से यह संपूर्ण क्षेत्र एक इकाई है जिसमें एक ही जैसे पेड़-पौधे पाए जाते हैं।

पुरातात्त्विक स्रोत

दावा किया गया है कि ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में सिंधु-गंगा के जल विभाजक क्षेत्र और गंगा की ऊपरी घाटी में सामाजिक विकास की भौतिक पृष्ठभूमि चित्रित धूसर मृदभांड और विशेषकर लौह उपयोग संस्कृति के प्रथम चरण द्वारा प्रदान की गयी है। चित्रित धूसर मृदभांड के स्थल जम्मू के सुदूर उत्तर में मांडु, दक्षिण में उज्जैन और पश्चिम में बीकानेर से लेकर पूरब में वैशाली (बिहार) तक फैले हैं। लेकिन इसके उत्पादन के मुख्य केंद्र सतलज और गंगा की ऊपरी घाटियाँ ही जान पड़ती हैं। इस क्षेत्र में चित्रित धूसर मृदभांड के 750 से अधिक स्थल खोदे गए हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की जनजातियों और अनेक नई जनजातियों का पुनः समूहीकरण हुआ था। इस अवधि में आर्य और अनार्य का अभ्युदय हुआ। भरतवंश और पुरुवंशी नामक दो प्रमुख जातियाँ संयुक्त हो गयी और इस प्रकार कुरुवंश का निर्माण हुआ जो अपने मित्र पांचालों से मिल कर दुर्जेय जनजातीय समूह बन गया। प्रतीत होता है कि आरंभ में कुरुओं ने सरस्वती और दृष्टवती के बीच ठीक दोआब के किनारे पर अपने वास स्थान बनाये। शीघ्र ही उन्होंने दिल्ली और गंगा के मैदान के ऊपरी भाग पर अधिकार कर लिया और इसे कुरुक्षेत्र अथवा कुरुओं की भूमि कहा जाने लगा। संस्कृति का केंद्र धीरे-धीरे पूर्व की ओर खिसकता गया और दोआब के ऊपरी और मध्य भागों में वह स्थानीकृत हो गया। इस दोआब में बरेली, बदायूँ, और फ़र्रुखाबाद आदि आधुनिक ज़िले शामिल थे। इस क्षेत्र ने उत्तर-वैदिक काल में अनेक महान विद्वान ब्राह्मण और दार्शनिक राजा पैदा किए।

यह देखना दिलचस्प है कि इसी क्षेत्र ने अधिकतम संख्या में लौह निर्मित हथियार और औज़ार प्रदान किए हैं। इस प्रकार यह कुरु-पांचालों का प्रदेश है जिसने पुरातात्त्विक दृष्टि से जीविका के सुरक्षित और नियमित साधनों पर जीवन-निर्वाह करने वाली अपेक्षाकृत घनी आबादी को अवसर प्रदान किया। दो चित्रित धूसर मृदभांडों वाले स्थलों के बीच की औसत दूरी लगभग 8 किलोमीटर है जो इस बात का संकेतक है कि चित्रित धूसर मृदभांड पाए गए अन्य क्षेत्रों की तुलना में आबादी का घनत्व इस क्षेत्र में अधिक था। यमुना नदी के तट पर अवस्थित स्थलों के बीच की दूरी और भी

कम है। उसके आगे पूरब दिशा में और अधिक चित्रित धूसर मृदभांडों के स्थलों का संकेंद्रीकरण मिलता है। इसका एकमात्र अपवाद है गाजियाबाद ज़िला जहाँ दस मील के घेरे में 7 स्थल हैं। इस क्षेत्र के चित्रित धूसर मृदभांड के लोहे के दौर के ढेर जो कई स्थानों पर तीन से चार मीटर गहरे बताए जाते हैं इस मान्यता की पुष्टि करते हैं कि ये बस्तियाँ कम से कम तीन से चार शताब्दियों तक रही होंगी। उनके सापेक्षिक स्थायित्व और प्रचुरतर भौतिक धारणा-क्षमता से आबादी में बढ़ोत्तरी तो ज़ाहिर होती ही है साथ ही यह भी संकेत मिलता है कि ये क्षेत्र कृषक समाज से भरे पड़े थे। यह सर्वथा युक्ति संगत जान पड़ता है कि जब वैदिक लोग अधिक उपजाऊ और मानसून-पोषित पूर्वी दिशा की ओर जाकर बस गए तो उत्तर और पश्चिम (विशेषकर पंजाब) का न सिर्फ महत्व घट गया बल्कि उस क्षेत्र के निवासी भी हेय दृष्टि से देखे जाने लगे।

7.5.2 लौह तकनीकी और इसके प्रभाव

चित्रित धूसर मृदभांड स्पष्टतः दर्शाता है कि लोहे के हथियार वाणाग्र और बरछी व शीर्ष सिराएँ जैसे हथियार लगभग 800 वर्ष ईसा पूर्व से पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आम तौर पर उपयोग में लाए जाने लगे। लोहे के इन हथियारों ने कुरु-अंचलों को उस क्षेत्र के अपने शत्रुओं पर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने में मदद की होगी। गंगा की ऊपरी घाटी में जंगलों को साफ करने के लिए लौह कुठार उपयोग में लाए गए होंगे। उत्तर-वैदिक काल के अंत में लौह संबंधी जानकारी पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के विदेह क्षेत्र में फैल गयी। इस क्षेत्र में खोदकर निकाले गए लौह उपकरण ईसा पूर्व सातवीं सदी के हैं। ध्यान देने की बात है कि इस काल के उत्तर-वैदिक ग्रंथों में इस काले धातु का उल्लेख कई गुना बढ़ गया। ब्राह्मणों में सबसे महत्वपूर्ण शतपथ ब्राह्मण का पुरज़ोर दावा है कि लोहा कृषक वर्ग की रीढ़ था। इससे स्पष्ट होता है कि कृषि कार्यों में भी लोहा महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा। अथर्ववेद और ऐतरेय ब्राह्मण इस धातु का उल्लेख श्यामअयस अथवा कृष्णअयस के रूप में करते हैं। हालांकि लोहे से बने कृषि के औज़ार बहुत कम मिले हैं। निस्संदेह कृषि उत्तर-वैदिक लोगों की जीविका का मुख्य स्रोत बन गयी। शतपथ ब्राह्मण कृषि संबंधी कार्यों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। यह हल में छह, आठ, बारह और यहाँ तक कि चौबीस बैलों के जोते जाने की चर्चा करता है। अन्य ब्राह्मण भी हल जोतने के अनुष्ठानों का वर्णन करते हैं।

7.5.3 उत्तर-वैदिक अर्थव्यवस्था

उत्तर-वैदिक ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि लोग सिर्फ जौ जी नहीं, जिसकी चर्चा ऋग्वेद में बहुधा हुई है, गेहूं, अनेक प्रकार की दालें, और सबसे बढ़कर चावल भी उपजाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में कम से कम छह प्रकार के चावलों का उल्लेख मिलता है। अतरंजीखेड़ा में चित्रित धूसर मृदभांड की अवस्था में जौ के अतिरिक्त चावल और गेहूं पाए गए हैं। मसा, तिल, बाजरा (श्यामक) इत्यादि भी उत्तर-वैदिक (चित्रित धूसर मृदभांड) ग्रंथ में स्थान पाते हैं। गंगा की ऊपरी घाटी में चावल की खेती से संकेत मिलता है कि पुराने जमाने में इस क्षेत्र में वर्षा और जलजमाव दोनों भारी मात्रा में होते थे। यह एक रोचक तथ्य है कि वैदिक अनुष्ठानों में गेहूं का महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। इसके विपरीत, मलेच्छों (अनार्यों) के भोजन के रूप में इसकी निंदा की गयी है। पंचविश ब्राह्मण में जौ और चावल का उल्लेख जीव-स्रोत (प्राणस्थ प्राण:) के रूप में किया गया है। उत्तर-वैदिक ग्रंथ बतलाते हैं कि चावल का उपयोग यजमान (फलकर्ता) को अमर बना देता है। इसे अक्षत कहा गया है जिसका अर्थ है अनश्वर। विभिन्न प्रकार की फ़सलों की खेती निर्वाह मात्रा की अर्थव्यवस्था से कुछ अधिक का ही संकेत देती है। कृषकों ने अपने भरण-पोषण की आवश्यकता से कुछ अधिक उपजाना शुरु किया। अब वे पुरोहितों और राजकुमारियों जैसे गैर-उत्पादक वर्ग का ही नहीं कुछ अन्य वैसे पेशेवर समूहों का भी भरण-पोषण करने लगे जो इन अवधियों में उभर रहे थे। आर.एस. शर्मा का मत है कि यद्यपि कृषि का चलन कई गुना बढ़ गया, यह अभी भी प्रारंभिक अवस्था में ही थी। जुताई लकड़ी के बने फालों से की जाती थी जिनके सिरे

संभवतः लोहे के बने होते थे। यह गंगा के ऊपरी मैदानों की हल्की मिट्टी के अनुकूल था। इस प्रकार शर्मा के अनुसार उत्तर-वैदिक समाज छोटे पैमाने पर गैर-आर्थिक समाज था, पूर्णतः वर्ग-समाज नहीं। उनका यह भी कहना है कि लकड़ी से बने हल के फाल पर आधारित कृषि और यज्ञों में पशुओं की अंधाधुंध बलि के कारण कृषि से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन की सीमित उपलब्धता उनके वर्ग-विरोध को तीखा नहीं बना सकती थी। लेकिन यह संदेह से परे है कि ऋग्वेदकालीन पशुपालक और अर्द्ध-यायावरीय जनजातीय समाज इस काल में स्थानबद्ध कृषक समाज में परिवर्तित हो चुका था।

उत्तर-वैदिक काल कुछ पेशेवर समूहों के अभ्युदय का भी साक्ष्य बना। उत्तर-वैदिक ग्रंथों में कलाओं और शिल्पों का जिक्र मिलता है। पुरातात्त्विक प्राप्तियाँ भी इस मान्यता का समर्थन करती हैं। हम ईसा पूर्व लगभग 1000 वर्ष से ऐसे धातुकर्मी और प्रगालकों की चर्चा पाते हैं जिन्हें निश्चय ही लोहे से कुछ-न-कुछ करना होता था। पश्चिमी उत्तर प्रदेश और बिहार में भी बड़ी संख्या में तांबे के भंडार (तांबे के औज़ारों का ढेर) पाए गए हैं। ये भंडार गैरिक मृदभांड के दौर के हैं। यह दौर ईसा के 1000 वर्ष पूर्व का है। ये तांबे के औज़ार वैदिक और गैर-वैदिक दोनों समाजों में ताम्रकर्मियों (ठठेरों) के अस्तित्व का संकेत देते प्रतीत होते हैं। जो भी हो, तांबा उन धातुओं में एक था जिसका उपयोग वैदिक लोग करते थे। इस धातु से बने मृदभांड की भारी प्रशंसा वैदिक अनुष्ठानों में की गयी है। भारी संख्या में तांबे के पदार्थ फीका धूसर मृणपात्र (मृदभांड) के स्थलों पर पाए गए हैं। उनका उपयोग मुख्य रूप से युद्ध, आखेट और आभूषणों के लिए किया जाता था।

इस अवधि में चर्म-कर्म, मृदभांड-निर्माण, काष्ठकर्म और सबसे बढ़कर बुनाई के काम काफ़ी तेज़ी से बढ़े। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक लोग चार प्रकार के मृदभांडों- लाल और काले मृदभांड, काले पॉलिशदार मृदभांड, काले मृदभांड, चित्रित धूसर मृदभांड और लाल मृदभांड- से परिचित थे। हालांकि इस काल का सबसे विशिष्ट मृणपात्र चित्रित धूसर मृदभांड को ही माना गया। इस काल के काँच-भंडार और चूड़ियाँ भी मिली हैं। इससे उनके कला और शिल्प के प्रति रुझान का भी पता चलता है। उत्तर-वैदिक साहित्य में जौहरियों का भी जिक्र आया है। संभवतः वे उत्तर-वैदिक काल के समृद्ध लोगों की शृंगार आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

मार्टिमेर व्हीलर का विश्वास है कि चित्रित धूसर मृदभांड पूर्ण विकसित नगरीय जीवन का साक्ष्य बना। एक आरण्यक में नागर और दो ब्राह्मणों में नागरिन पदों का प्रयोग हुआ है। लेकिन ये ग्रंथ ईसा के 600 वर्ष से अधिक पहले के नहीं हैं। चित्रित धूसर मृदभांड के स्थलों के अध्ययन से साफ ज़ाहिर होता है कि इस संस्कृति को नगरीय नहीं माना जा सकता। हस्तिनापुर और कौशांबी की खुदाइयाँ उत्तर-वैदिक काल के अंत के आस पास शहरों की हलकी शुरुआत दर्शाती हैं। उन्हें ठीक ही आद्य-नगरीय स्थल कहा गया है। कुछ उत्तर-वैदिक ग्रंथ समुद्रों और समुद्री यात्राओं का उल्लेख करते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि कई कलाओं और शिल्पों के अभ्युदय के कारण छोटे-मोटे पण्यों (माल) के उत्पादन से व्यापारिक एवं वाणिज्यिक क्रियाकलाप को बढ़ावा मिला। लेकिन वस्तु विनिमय पर आधारित और पिछड़ी कृषि-अर्थव्यवस्था उस काल में पूर्णतः विकसित नगरीकरण के विकास के लिए अनुकूल वातावरण नहीं प्रदान कर सकी।

7.5.4 उत्तर-वैदिक राजव्यवस्था

राजनीतिक क्षितिज पर हम इस अवधि में कुछ अति महत्वपूर्ण रूपांतरण पाते हैं। लोकप्रिय जनजातीय सभाओं ने अपनी महत्ता खो दी। उनकी क़ीमत पर राजतंत्रीय शक्ति में वृद्धि हुई। विदथ, जो वितरणशील जनजातीय संगठन के रूप में काम करता था, इस अवधि में विलुप्त हो गया। सभा और समिति ने भी अपना समतामूलक और सहयोगात्मक स्वरूप खो दिया। अब उन पर उदीयमान सरदारों और अनुष्ठानिक दृष्टि से शक्तिशाली ब्राह्मणों का वर्चस्व क़ायम हो गया था। ऋग्वेद का पशुचारी, अर्थ यायावरी और जनजातीय समाज एक खेतिहर (हालांकि छोटे पैमाने पर ही) और

क्षेत्रीय समाज में रूपांतरित हो गया। यद्यपि राजा अभी भी जनजातियों पर शासन करते थे लेकिन उनका प्रभुत्व-क्षेत्र सीमित हो गया और उनके क्षेत्र में भिन्न जनजातियों का भी वास होने लगा। आरंभ में पनकाला एक जनसमुदाय का नाम था और बाद में यह एक क्षेत्र का नाम हो गया। सरदार अथवा राजा का पूर्व में चुनने का प्रचलन अब कमज़ोर पड़ गया। ऋग्वेद काल का बलि नाम से विदित स्वैच्छिक उपहार जो जनजातीय सरदार विश से पाया करता था अब आदेशात्मक कर बन गया था। इस प्रकार इस अवधि में कर-वसूली की शुरूआत हो गयी। राजकीय सिद्धांतवादियों अर्थात ब्राह्मणों के उदीयमान शक्तिशाली वर्ग ने आम खेतिहर समुदाय पर वित्तीय और प्रशासनिक नियंत्रण क़ायम करने के लिए जटिल अनुष्ठानों का तंत्र विकसित किया। शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मण विश अथवा उन किसानों की कड़ी निंदा करते हैं जो शासक के प्रति तिरस्कार अथवा अवज्ञा का भाव रखते थे या उनके विरूद्ध विद्रोह करते थे। शतपथ ब्राह्मण का सुझाव है कि विश अथवा किसानों को कुलीन वर्ग पर प्राथमिकता नहीं दी जानी चाहिए और जो उन्हें कुलीन वर्ग के समकक्ष रखते हैं और ऐसा कर उन्हें विद्रोही बनाते हैं वे उच्चतर और निम्नतर वर्ग के बीच गड़बड़ी पैदा करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि विश या किसान घास हैं और कुलीन वर्ग हिरण है। घास हमेशा हिरणों के खाने के लिए होती है। शतपथ ब्राह्मण का सुझाव है कि कृषक वर्ग को एक ओर से ब्राह्मणों और दूसरी ओर से क्षत्रियों द्वारा घेर लिया जाना चाहिए। अनेक वैदिक उल्लेखों से स्पष्ट है कि संख्या की दृष्टि से वैश्य ब्राह्मणों और क्षत्रियों से कहीं ज्यादा मजबूत थे। इस प्रकार यह आवश्यक हो गया कि उन्हें नियंत्रण में रखा जाए और शासक वर्ग को अपनी उपज का नियतकालिक दशमांश या कर देने के लिए उन्हें बाध्य किया जाए। लेकिन यह बात आश्चर्यजनक है कि उत्तर-वैदिक ग्रंथ कर उगाहने के लिए किसी संस्थापित प्रशासनिक तंत्र का जिक्र नहीं करते। 'भगदुघ' पद का अर्थ करों के संग्राहक के लिए नहीं बल्कि वितरक के लिए लगाया जाता है। इस प्रकार कृषक वर्ग से वसूले गए करों के स्वरूप के संबंध में हमें कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। सोना और चांदी जैसे मूल्यवान धातुओं के उपयोग के बावजूद उत्तर-वैदिक काल एक मुद्राहीन समाज था। ऐसा इसलिए था कि कृषि से अतिरिक्त उत्पादन की उपलब्धता सीमित थी क्योंकि इस अवधि में कृषि काष्ठ से निर्मित फाल पर आधारित थी। इससे स्पष्ट होता है कि यह एक मुद्रा-विहीन कृषक समाज था।

7.5.5 उत्तर-वैदिक समाज

वर्णक्रम-परंपरा का उद्भव उत्तर-वैदिक काल में सामाजिक संघटन की मुख्य विशेषताओं में एक था। ऋग्वैदिक काल में वर्ण 'पद' का उपयोग संभवतः आरंभ में मुख्य रूप से आर्यों और मूल अनार्य निवासियों के बीच भेद के लिए होता था। लेकिन, उत्तर-वैदिक काल में इसका विस्तार हुआ और समाज चार वर्ण समूहों में बंट गया जिसमें ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च रहा और शूद्र चौथे और अंतिम पायदान पर धकेल दिए गए। इसके पूर्व ब्राह्मण, जो प्रथम श्रेणी के हकदार बन गए, सत्रह प्रकार के पुरोहितों में ही शामिल थे। इस पुरोहित श्रेणी का उद्भव रहस्य के आवरण में लिपटा है। डी.डी. कौशांबी का मानना है कि इसमें हड़प्पा संस्कृति के कर्ताओं के साथ-साथ अन्य देशी जनजातीय पुरोहित वर्ग भी शामिल हो गया होगा। वशिष्ठ और अगस्त जैसे दो अति महत्वपूर्ण वैदिक ऋषियों के घड़े से जन्म की कहानी भी यही प्रमाणित करती है। इस वर्ग के अभ्युदय का जो भी कारण रहा हो, यह संदेह से परे है कि ब्राह्मण न सिर्फ अन्य पुरोहित समुदाय, अपितु अन्य श्रेणी के वर्णों पर भी हावी हो गए। यह सर्वथा संभव प्रतीत होता है कि कृषि में प्रगति के साथ ब्राह्मण, राजन्य और तेजी से उभरते कुछ अन्य पेशेवर सामाजिक समुदायों जैसे ग़ैर उत्पादक वर्गों के भरण-पोषण के लिए अतिरिक्त पैदावार सुलभ हो गयी। ब्राह्मणों ने ढेर-सारे ऐसे अनुष्ठानों का ईजाद कर लिया जिन्होंने उन्हें वैश्यों और शूद्रों पर शासन करने के लिए सैद्धांतिक वैधता प्रदान कर दी। इस सैद्धांतिक समर्थन के बदले में ब्राह्मण उपलब्ध सामाजिक अधिशेष में अच्छी-खासी हिस्सेदारी का दावा करते थे। उत्तर-वैदिक ग्रंथों और विशेषकर ब्राह्मण ग्रंथो के अध्ययन से स्पष्ट संकेत मिलता है कि यह पुरोहित वर्ग न सिर्फ राजन्यों अथवा क्षत्रियों अपितु विशाल कृषक समुदाय के लिए भी अनेक अनुष्ठानों का निष्पादन करता था। वैश्य वर्ग, जो मुख्य उत्पादक वर्ग था, के लिए धार्मिक अनुष्ठान

कर ब्राह्मण भारी मात्रा में दक्षिणा पाते थे। राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय इत्यादि राजकीय समारोहों और अनुष्ठानों से तो उन्हें और भी ज्यादा उपहार प्राप्त होते थे। इन उपहारों में स्वर्ण जड़ित सींगों वाली हज़ारों-हज़ार गाएँ, घोड़े, वस्त्र, दासियां और कुछ मामलों में अनाज भी शामिल थे। इस प्रकार, आर्थिक दृष्टि से ब्राह्मणों ने अपनी लाभकर स्थिति सुदृढ़ कर ली। एक ओर जहाँ राजाओं तक उनकी पहुंच सुगम और सीधी थी वहीं दूसरी ओर वे वैश्यों से भी अनुष्ठानिक संबंध बनाए हुए थे। एक ओर क्षेत्रीय पहचान के साथ राजशाही की बढ़ती शक्ति और दूसरी ओर कृषि में प्रगति के कारण उत्तर-वैदिक काल के इन दो प्रभावशाली वर्गों के बीच संघर्ष की स्थिति पैदा हो गयी। इस संघर्ष की अनेक अनुगूंजे उत्तर-वैदिक ग्रंथों में सुनाई पड़ती हैं। अथर्ववेद राजन्यों अथवा क्षत्रियों को गायों और ब्राह्मण-पत्नियों के स्पर्श से भी मना करता है। यह पूर्व में क्षत्रियों द्वारा किए गए ऐसे कर्मों के भयावह परिणामों का उल्लेख करता है। इसलिए उन्हें ब्राह्मणों की संपत्ति को नुकसान पहुंचाने की कल्पना करने से भी मना किया जाता है। इसके बावजूद, हम इन वर्गों के बीच वास्तविक संघर्षों का उल्लेख पाते हैं। संभवतः सर्वोच्च सामाजिक और धर्मानुष्ठानिक हैसियत के दावे ने तेजी से उभरते शक्तिशाली राजशाही वर्ग - राजन्यों और क्षत्रियों- के अहं को चोट पहुंचाई। लेकिन झगड़े का सबसे महत्वपूर्ण कारक आर्थिक (वैश्यों अथवा कृषक समुदाय द्वारा उपलब्ध कराया गया अनाज और पशुओं के अधिशेष में हिस्सेदारी) प्रतीत होता है। जब उत्तर-वैदिक काल के अंत में संघर्ष तीव्र हो गया, तो नवीनतम वैदिक ग्रंथों ने विशेष रूप से शतपथ ब्राह्मण ने, क्षत्रियों और ब्राह्मणों के बीच एकता और सहयोग पर बल देने की आवश्यकता महसूस की। ऐतरेय ब्राह्मण ने तो उन्हें यहाँ तक चेतावनी दे डाली कि अगर वे साथ-साथ संगठित नहीं होते हैं तो किसानों का विशाल समुदाय उन पर पूरी तरह हावी हो जाएगा। यह कहता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज के दो अति महत्वपूर्ण स्तंभ हैं और सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए उनका एकजुट होना अनिवार्य है। यह वर्ग-संघर्ष के चिह्न नहीं तो कम-से-कम दो शासक वर्गों के बीच वर्ग चेतना का संकेत तो देता ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृषक समाज से नज़राना और यज्ञीय शुल्क एकत्र करने की चिरस्थायी आवश्यकता तथा शूद्रों से सेवाओं की अपेक्षा ने दोनों उच्च वर्गों को एकजुट रखा होगा। लेकिन सामाजिक संघर्ष का केंद्र क्षत्रियों और वैश्यों के बीच ही सीमित जान पड़ता है।

वैश्य समुदाय आबादी का बड़ा हिस्सा था और उसके अधीन कृषि, पशुपालन और सीमित अंश में व्यापारिक गतिविधि जैसे कार्य थे। लगता है, उस समय संख्यात्मक दृष्टि से शूद्र विशेष महत्वपूर्ण नहीं थे। वे उत्पादन कार्यों में वैश्यों की मदद करते थे और घरेलू नौकरों के रूप में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की सेवा करते थे। लेकिन, उत्तर-वैदिक काल के नवीनतम ग्रंथ, विशेषकर ब्राह्मणग्रंथ, समाज में उनकी सबसे ख़राब स्थिति का हवाला देते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वह दूसरे की मर्जी के अनुसार काम करने, नौकर बनने और सबसे बढ़कर पीटे जाने के लिए अभिशप्त है।

7.5.6 उत्तर-वैदिक धर्म

इस अवधि में धार्मिक मामलों में कुछ महत्वपूर्ण रूपांतरण या परिवर्तन हुए। उत्तर-वैदिक कालों में बड़ी संख्या में अनुष्ठानों वाले यज्ञों की जटिल शृंखला के आविष्कार और प्रचलन के उदाहरण मिलते हैं। बदले सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य में दो श्रेष्ठ ऋग्वैदिक देवताओं, इंद्र और अग्नि, ने अपनी पुरानी महिमा खो दी और वे अगली पंक्ति से ओझल हो गए। अब उत्तर-वैदिक धार्मिक क्षितिज पर जो सबसे चमकीला सितारा उभरा वह था प्रजापति जिसे स्रष्टा के रूप में सर्वोच्च आसन पर बैठाया गया। ऋग्वैदिक काल के कुछ छोटे कद के देवता अब अधिक शक्तिशाली बनकर उभरे। पशुओं का देवता रुद्र इस काल में महत्वपूर्ण हो गया। यायावर देवता विष्णु अब उत्तर-वैदिक काल में परिरक्षक, संरक्षक और स्थानबद्ध देवता बन गया। कुछ देवताओं को वर्ण क्रम परंपरा के आधार पर भी श्रेणीबद्ध किया गया। उदाहरणस्वरूप मरुत को कृषक समुदाय का और पूषन को शूद्रों का देवता माना गया। इस काल में पूजा की विधि में भारी परिवर्तन हुए। यज्ञ ने धर्म का केंद्र-स्थान ग्रहण कर लिया। वे सार्वजनिक और निजी दोनों स्तरों पर किए जाते थे। यज्ञों में बड़े पैमाने पर पशुओं की हत्या की जाती थी। पशुधन की भारी बर्बादी होती थी। उपनिषदों में हम इस प्रथा के-

कुछ प्रतिवाद पाते हैं। लेकिन यह उत्तर-वैदिक काल के बिलकुल अंत में हुआ।

7.6 उपसंहार

लगभग 600 ई.पू. में उपनिषदों का संकलन किया गया। वैदिक समाज का फैलाव कौशल और विदेह तक हुआ। इन दार्शनिक ग्रंथों ने धार्मिक कर्मकांडों की निंदा की और सत्य तथा ज्ञान आधारित मूल्यों पर बल दिया। समय के साथ हम उनके समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था और धर्म में व्यापक बदलाव पाते हैं।

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. संक्षिप्त टिप्पणी

(i) वर्ण-व्यवस्था
(ii) उत्तर-वैदिक धर्म

ख. सही-गलत बताएँ:

(i) उत्तर-वैदिक काल का इतिहास चित्रित धूसर मृदभांड के दौर की पुरातात्त्विक सामग्रियों के अध्ययन से प्राप्त तथ्यों पर आधारित है।
(ii) उत्तर-वैदिक काल के अंत में तांबा संबंधी जानकारी पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के विदेह क्षेत्र में फैल गयी।
(iii) भगदुघ पद का प्रयोग करों के संग्राहक के लिए होता था।
(iv) वर्णक्रम-परंपरा का उद्भव उत्तर-वैदिक काल में सामाजिक संघटन की मुख्य विशेषताओं में एक था।
(v) उपनिषदों में धार्मिक कर्मकांडों की निंदा की गई और सत्य तथा ज्ञान आधारित मूल्यों पर बल दिया।

ग. दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न:

1. आर्य संबंधी प्रश्नों और वैदिक समाज की विशेषताओं पर चर्चा करें।
2. ऋग्वेद के अध्ययन से आरंभिक वैदिक काल की अर्थव्यवस्था और राजव्यवस्था के विषय में क्या पता चलता है? वर्णन करें।
3. उत्तर-वैदिक कालीन सामाजिक वर्गीकरण और धार्मिक प्रथाओं की विवेचना करें।

सारांश

- आर्यों के मूल स्थान के बारे में विद्वानों के बीच कोई मतैक्य नहीं है।
- आरंभिक आर्यों ने सात नदियों के देश अर्थात सप्त सैंधव प्रदेश पर अपना कब्जा जमाया।
- ऋग्वैदिक अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से पशुपालन पर निर्भर थी और गाय सर्वाधिक महत्वपूर्ण संपत्ति थी।
- आरंभिक वैदिक लोगों ने प्राकृतिक शक्तियों का मानकीकरण किया और उनकी पूजा की।
- लगभग सभी उत्तर-वैदिक ग्रंथों का संकलन ऊपरी गंगा घाटी में 1000 ईसा पूर्व - 500 ईसा पूर्व के मध्य किया गया।
- कृषि और विभिन्न प्रकार के शिल्प की बदौलत उत्तर-वैदिक लोग स्थायी जीवन जीने में सक्षम हुए।
- उन्होंने हथियार के रूप में लोहे का उपयोग किया और गेहूँ और चावल की खेती की।

- सुपरिभाषित राजनीतिक इकाइयों की स्थापना हुई, कानून संहिताबद्ध किए गए और एक भिन्न सामाजिक स्तरीकरण का जन्म हुआ।

प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. (i) गलत (ii) सही (iii) गलत (iv) सही

ख. (i) अश्व (ii) ऋग्वेद (iii) 2 से 7 (iv) सात नदियों के देश (सप्त सैंधव प्रदेश) (v) विश्वामित्र

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. (i) ऋग्वेद (ii) कुरु (iii) गौ या गाय (iv) राजन्य (v) वरुण

ख. (i) देखें खंड 7.4.2; (ii) देखें खंड 7.4.4

प्रगति जाँच अभ्यास 3

क. (i) देखें खंड 7.5.5; (ii) देखें खंड 7.5.6

ख. (i) सही (ii) गलत (iii) गलत (iv) सही (v) सही

पाठ 8

दक्षिण भारत की महापाषाणकालीन संस्कृतियाँ

पाठ्य-रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.1.1 'मेगालिथ' का तात्पर्य

8.2 कालक्रम

8.3 महापाषाण संस्कृतियों का उद्भव और विस्तार

8.4 महापाषाणकालीन संस्कृति – दक्षिण भारत की लौह युगीन संस्कृति

8.5 महापाषाणों का वर्गीकरण

8.5.1 चट्टानों को काटकर बनाई गयी गुफाएँ

8.5.2 हुड स्टोन और हैट स्टोन

8.5.3 दीर्घाश्म स्तंभ, मेनहिर श्रृंखला और वीथियाँ

8.5.4 गुंबदनुमा कब्र

8.5.5 स्तूपाकार वृत्त

8.5.6 पत्थर के वृत

8.5.7 गर्त अंत्येष्टियाँ

8.5.8 क़ब्रों के टीले

8.6 महापाषाणकालीन अंत्येष्टियों में क़ब्र की सामग्रियाँ

8.7 जीविका पद्धति

8.7.1 कृषि

8.7.2 पशुचारिता

8.7.3 शिकार और माहिगीरी

8.7.4 प्रौद्योगिकी: उद्योग और शिल्प

8.8 व्यापार और विनिमय नेटवर्क

8.9 सामाजिक संगठन और अधिवास पद्धति

8.10 धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ

8.11 राजव्यवस्था

8.12 महापाषाणकालीन संस्कृति की विरासत

8.13 महापाषाणकालीन संस्कृति के अध्ययन के लिए स्रोतों की सीमाएँ

8.14 उपसंहार

8.15 सारांश

8.0 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर आप निम्नलिखित विषयों में सक्षम होंगे:

- मेगालिथ शब्द की समझ और व्याख्या
- दक्षिण भारत में महापाषाणकालीन संस्कृतियों के उद्भव और विस्तार की पहचान
- इन संस्कृतियों की जीविका पद्धति, अर्थव्यवस्था और अन्य लक्षणों की व्याख्या
- उपलब्ध अध्ययन स्रोतों की सीमाओं की समीक्षा

8.1 प्रस्तावना

दक्षिण भारत और दक्कन में 1000 वर्ष ईसा पूर्व से 300 ईस्वी तक की अवधि को महापाषाणकालीन संस्कृति का काल माना गया है। इस संस्कृति का आशय महापाषाण काल और उसके समकालीन अधिवास स्थलों के सांस्कृतिक अवशेषों से है।

8.1.1 'मेगालिथ' का तात्पर्य

अंग्रेज़ी पद मेगालिथ ग्रीक मेगास अर्थात महान और लिथास अर्थात पाषाण से व्युत्पन्न है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है, महापाषाण बड़े पत्थरों से निर्मित स्मारकों के सूचक हैं। लेकिन, बड़े पत्थरों से बने सारे स्मारक महापाषाण संस्कृति के सूचक नहीं हैं। इस पद का प्रयोग सीमित है और सिर्फ उसी वर्ग की संरचनाओं अथवा स्मारकों के लिए यह प्रयुक्त होता है जो बड़े पत्थरों से बने हैं और समाधि, स्मारक अथवा अनुष्ठान से जुड़े हुए हैं। दूसरे शब्दों में, महापाषाण सामान्यतः आवासीय क्षेत्र से दूर कब्रिस्तान में बड़े पत्थरों से बनी समाधियों के सूचक हैं।

8.2 कालक्रम

एम.एच. कृष्णा, आर.एस. पंचमुखी, जी.एस. धुर्ये, पंचानन मित्रा तथा दूसरे विद्वानों ने भारत में (उत्तर भारत समेत) महापाषाण संस्कृति को प्रागैतिहासिक कालीन अथवा अति प्राचीन माना है। लेकिन उनका तिथि-निर्धारण सुप्रेक्षित पुरातात्त्विक संदर्भ पर आधारित नहीं है। इसलिए पुरातत्त्वविदों ने आम तौर पर इसका खंडन किया है।

इन संस्कृतियों के कालक्रम निर्धारण की समस्या का स्पष्ट समाधान नहीं हो पाया है। सर्वप्रथम आर.ई.एम. व्हीलर ने ब्रहमगिरि में की गयी खुदाइयों के आधार पर दक्षिण भारत में महापाषाण संस्कृतियों का सुदृढ़ पुरातात्त्विक विन्यास प्रस्तुत किया। पुरातात्त्विक साक्ष्य के आधार पर उसने इन संस्कृतियों की अवधि ईसा पूर्व तीसरी सदी से ईस्वी सन की प्रथम सदी के बीच बतलाई। लेकिन ब्रह्मगिरि साक्ष्य के आधार पर व्हीलर द्वारा निर्धारित समय-सीमा अविश्वसनीय है। दक्षिण भारत की महापाषाण संस्कृति का काल-विस्तार उससे कहीं अधिक है, जिसे व्हीलर ने पांच दशक से अधिक

पूर्व मान लिया था। इसी प्रकार, बी.के. थापर ने मास्की में की गयी खुदाइयों के आधार पर दक्षिण भारत की महापाषाण संस्कृति का काल-विस्तार ईसा के लगभग 200 वर्ष पूर्व से ईसा की प्रथम सदी के मध्य तक माना है। व्हीलर द्वारा निर्धारित तिथियों में इस तिथि के दोनों ओर एक सदी का फ़र्क युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

दक्षिण भारत में महापाषाणकालीन संस्कृतियों के कालक्रमिक विस्तार का पता लगाने में कठिनाई यह है कि महापाषाणकालीन आवासों से अब तक रेडियो-कार्बन तिथियाँ कम ही मिल पाई हैं। हल्लूर के आवासीय स्थल से इन संस्कृतियों की आद्यतम अवस्था के लिए ईसा पूर्व 1000 वर्ष की 14 कार्बन तिथि प्राप्त हुई है। नागराज राव इस अवस्था को इस स्थल से 4 किलोमीटर दूर तदफ़नहल्ली की क़ब्रों से जोड़ते हैं। एस.बी. देव नैकुंड और ताकलघाट के स्थलों के लिए दो रेडियो-कार्बन तिथियाँ प्रस्तुत करते हैं और विदर्भ महापाषाण को ईसा पूर्व लगभग 600 वर्ष का मानते हैं। तमिलनाडु में पायमपल्ली ईसा पूर्व लगभग चौथी सदी की 14 कार्बन तिथि प्रस्तुत करता है। अपने शोध और खुदाइयों के आधार पर ए. सुंदर उत्तरी कर्नाटक क्षेत्र में महापाषाण की तिथि को ईसा के 1200 वर्ष पूर्व ले जाते हैं।

दक्षिण भारतीय महापाषाण संस्कृति की अवधि को ईसा पूर्व 1000 से ईस्वी सन 100 के दौरान का माना जा सकता है। के. राजन सहित कई विद्वान इस बात का समर्थन करते है। हालांकि उपलब्ध पुरातात्त्विक आंकड़े बताते हैं कि यह संस्कृति 600 ईसा पूर्व से 100 ईस्वी तक ही अपने चरमोत्कर्ष पर थी।

उल्लेखनीय है कि विश्व के अन्य भागों इंग्लैंड, फ्रांस, ईरान और सेइस्तान में मृतकों के समाधि-स्मारक इस अवधि में बनाए गए और वे सभी देशों में एक जैसे नहीं हैं।

8.3 महापाषाण संस्कृतियों का उद्भव और विस्तार

महापाषाण स्मारक दिशा और काल दोनों दृष्टियों से सबसे अधिक मानवीय अवशेषों में आते हैं। अधिकांश महापाषाण स्मारकों का उद्भव आरंभिक महापाषाण काल में भूमध्यसागरीय क्षेत्र में माना जाता है। कहा जाता है कि यहाँ से यह संस्कृति उन व्यापारियों द्वारा बाहर ले जाई गयी जो धातुओं की खोज में अटलांटिक के तट होकर पश्चिम यूरोप तक और एजियन के तट से ग्रीस होकर दक्षिण यूरोप तक गए। इसका विस्तार आड़े-तिरछे रूप में हुआ और यूरोप में यह भिन्न-भिन्न धाराओं में फैला। जहाँ तक भारत का संबंध है, यह संस्कृति यहाँ उन द्रविड़भाषी लोगों द्वारा पहुंची जो पश्चिम एशिया से समुद्री मार्ग से दक्षिण भारत आए।

पिछली सदी से अनेक विद्वानों द्वारा आरंभ किए गए क्षेत्र-कार्य से दक्षिण भारतीय महापाषाण के अध्ययन के एक नए युग का सूत्रपात हुआ है। तथापि, महापाषाण काल की उत्पत्ति, विस्तार, स्रोत, कालक्रम और भौतिक संस्कृति को समझना एक जटिल समस्या है। ये महापाषाण संस्कृतियाँ विभिन्न कालक्रमिक संदर्भ में वास्तव में संपूर्ण भारत में - पंजाब के मैदान, सिंधु-गंगा घाटी, राजस्थान की मरुभूमि, गुजरात का उत्तरी भाग और विशेषकर प्रायद्वीपीय भारत में नागपुर के दक्षिणी क्षेत्र में पाई गयी हैं। भारत के उत्तर-पश्चिम और नीलगिरि के क्षेत्रों में यह अभी भी जीवंत परंपरा के रूप में क़ायम है।

महापाषाण संस्कृतियों के उदय और विस्तार के संबंध में विभिन्न सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं। पश्चिम एशिया में इनके उद्भव के संबंध में विद्वानों में कुल मिलाकर वैचारिक समानता है। सी. वान एफ़. हीमेनडार्फ के अनुसार दक्षिण भारत महापाषाणकालीन जनता में वैसे द्रविड़ भाषी लोग थे जो समुद्री मार्ग के द्वारा दक्षिण भारत आए थे। लेकिन ठेठ पश्चिम एशियाई महापाषाण में कांस्य की वस्तुएँ बनती थीं और यह संस्कृति ईसा के 1200 वर्ष पूर्व के लगभग अपने कांस्य युग के अंतिम चरण में ख़त्म हो गयी। इसके विपरीत, भारतीय महापाषाण उस लौह युग का है जो सामान्य तौर पर ईसा के 1000 वर्ष पूर्व से आगे तक जाता है। फिर भी, यह निश्चित नहीं है कि लौह प्रौद्योगिकी कब और कैसे विकसित हुई

और महापाषाण संस्कृति का अभिन्न अंग बन गयी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस धातु का भारतीय उपमहादेश में प्रवेश न सिर्फ दो मार्गों, अपितु दो समूहों के भी जरिए हुआ था। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच भौतिक और कालक्रमिक भेदों से संकेतित होता है कि भारतीय उपमहादेश में इस संस्कृति का आगमन दो भिन्न समूहों द्वारा दो मार्गों से हुआ होगा। एक, ओमन की खाड़ी से भारत के पश्चिमी तट तक समुद्री मार्ग से और दूसरा ईरान से स्थल मार्ग से। ऐस्को पारपोला ने अपनी पुस्तक द साउथ इंडियन मेगालिथ्स (दक्षिण भारतीय महापाषाण) में महापाषाण को वैदिक साहित्य में उल्लिखित आर्यमूल के व्रतों से जोड़ा है। लेकिन ऐसा कहा जा सकता है कि दफ़न के एक दूसरे से काफी भिन्न प्रचलनों, जिन्हें एक साथ मिला दिया गया है और महापाषाण पद से ही नामित किया गया है, का प्रतिमान विविध परंपराओं और घटनाक्रमों के दीर्घ मिश्रण का प्रतिफल है। इसके अतिरिक्त, कुछ भौगोलिक क्षेत्रों में ही संकेंद्रित अब तक की सीमित गवेषणाएँ और खुदाइयां महापाषाण के उद्भव के संबंध में कोई ठोस निष्कर्ष नहीं प्रदान करते हैं।

19वीं सदी के आरंभिक भाग में जे. वेबिंग्टन द्वारा 1823 में कन्नूर ज़िले में कुछ कब्रों की खोज और खुदाई के साथ केरल के महापाषाण पर अध्ययन की शुरुआत हुई। तत्पश्चात, अनेक ब्रिटिश प्रशासकों और कई अन्य व्यक्तियों ने बड़ी संख्या में महापाषाणों की गवेषणा और खुदाई कर अपनी खोजों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। लेकिन उनकी दिलचस्पी मुख्य रूप से महापाषाणों में पाए गए क़ब्र के सामानों में थी और उनमें से कुछ ने तो स्मारकों को स्थानीय किंवदंतियों और लोक कथाओं के साथ भी जोड़ा। आगे चलकर 1887 में डब्ल्यू. लोगन जैसे विद्वानों ने महापाषाण संबंधी अध्ययन को और आगे बढ़ाया। 1837 में नीलगिरि के महापाषाणकालीन स्मारकों ने अपनी विलक्षण और भव्य संरचनाओं के कारण अनेक पुराविदों, पुरातत्त्व शास्त्रियों और संस्थानों का ध्यान समान रूप से आकर्षित किया है। लेकिन दक्षिण भारतीय महापाषाणों के सुव्यवस्थित अन्वेषण 1940 के दशक में जाकर ही शुरू हुए। आर.ई.एम. व्हीलर (1947) बी.के. थापर (मध्य 1940 का दशक) और वी.डी. कृष्णास्वामी जैसे विद्वानों ने क्रमश: ब्रह्मगिरि (कर्नाटक), पोर्कालम (केरल) और कोचीन (केरल) क्षेत्रों के महापाषाणों का अध्ययन किया जिससे महापाषाणकालीन दौर के संबंध में हमारे ज्ञान में वृद्धि हुई। आर.ई.एम. व्हीलर ने एक विशिष्ट मृदभांड – काले और लाल बरतन जो दक्षिण भारत में महापाषाणों के सभी प्रारूपों में पाए जाते हैं, के आधार पर महापाषाणों की तिथि निर्धारित की है। भारत में वी.डी. कृष्णास्वामी ने पहली बार कोचीन क्षेत्र के अज्ञात महापाषाणों का सुव्यवस्थित अध्ययन किया, उन्हें विशिष्ट प्रारूपों में वर्गीकृत और सुस्पष्ट रूप में परिभाषित किया। उन्होंने महापाषाणों के लिए पारिभाषिक शब्दावली का भी मानकीकरण किया। इस प्रकार महापाषाणों की नामावली में भ्रम का निराकरण हुआ। हाल के वर्षों में बी.के. गुरुराजा राव, ए. सुन्दर, के. राजन, राजन गुरुक्कल, पी. राजेन्द्रन, सी.एस.पी. अय्यर और अन्य विद्वानों ने दक्षिण भारत में विभिन्न क्षेत्रों के महापाषाणों पर अपने शोध-कार्यों के द्वारा हमारे ज्ञान में वृद्धि की है।

भारत में महापाषाण संस्कृतियों का मुख्य संकेद्रण दक्कन, विशेष रूप से गोदावरी नदी का दक्षिणी भाग था। फिर भी, कुछ सामान्य महापाषाणकालीन प्ररूपों से मिलती-जुलती बड़े पत्थरों की संरचनाएँ पश्चिम भारत, मध्य भारत और उत्तर भारत के कुछ स्थानों से प्राप्त होने की सूचना मिली है। बिहार में सरायकेला, अल्मोड़ा ज़िले में देवधूरा, उत्तर प्रदेश के आगरा ज़िले में फतेहपुर सीकरी के निकट खेड़ा, नागपुर, मध्य प्रदेश के चंदा और बांदरा ज़िले, राजस्थान में जयपुर से 32 मील पूरब देवसा ऐसे ही स्थान हैं। लेकिन चूंकि इन स्मारकों की न तो खुदाई और न ही कोई विश्वसनीय सतह परीक्षण अब तक किया गया है, अतः यह कहना मुश्किल है कि वे किस हद तक दक्कन के महापाषाणों से जुड़े हैं। ऐसे ही स्मारक अथवा संरचनाएँ पाकिस्तान में करांची के निकट, हिमालय की तराई में लेह और जम्मू और कश्मीर में बुर्जहोम में भी मिलती हैं। फिर भी, भारत के दक्षिणी क्षेत्रों में उनके व्यापक विस्तार से संकेत मिलता है कि यह मुख्य रूप से दक्षिण भारत की विशिष्टता थी जो कम से कम हज़ार साल तक फलती-फूलती रही और उसकी परिणति एक सामान्य उत्पत्ति वाली आधारभूत महापाषाणकालीन एकता की अनेकरूपता में हुई।

8.4 महापाषाणकालीन संस्कृति - दक्षिण भारत की लौह युगीन संस्कृति

इन महापाषाणकालीन स्मारकों की बाह्य आकृति और अंतर्वस्तु चाहे जो भी हो, वर्तमान शोध की स्थिति में वे दक्षिण भारत में लौह युग की घोषणा करते प्रतीत होते हैं। दक्षिण भारत में महापाषाणकालीन संस्कृति पूर्ण विकसित लौहयुगीन संस्कृति थी जब लोगों ने इस धातु के उपयोग से होने वाले भारी लाभों को पूरी तरह हृदयंगम कर लिया था। इसलिए उपकरणों और औज़ारों की सामग्री के लिए पत्थर का उपयोग बहुत हद तक घट गया। दक्षिण भारत की महापाषाणकालीन जनता, या यों कहे कि उपमहादेश की लौह युगीन आम जनता ने अपने दैनिक जीवन में पत्थरों का उपयोग नए-नए रूपों में शुरू कर दिया। दक्षिण भारत में लौह युग संबंधी सूचना अधिकांशतः महापाषाणकालीन क़ब्रों की खुदाइयों से प्राप्त हुई है। विदर्भ क्षेत्र (मध्य भारत) में नागपुर के निकट जूनापानी से लेकर दूर दक्षिण में तमिलनाडु के आदिचनल्लूर तक के सभी महापाषाणकालीन स्थलों में सर्वत्र लौह वस्तुएँ पाई गयी हैं।

लोहे के प्रवेश के साथ गृह-योजना को छोड़कर लगभग सभी मामलों में क्रमिक परिवर्तनों का सूत्रपात हुआ। लेकिन इन परिवर्तनों में सर्वाधिक विलक्षण था मृतकों का निपटारा। यह दक्षिण भारतीय क्षेत्रों का एक विशिष्ट लक्षण बन गया। घर में चार या पांच पात्रों के साथ गश्तों में शव को दफ़नाने के बदले अब उसे एक अलग स्थान पर घर से दूर किसी कब्रिस्तान अथवा समाधि स्थल में दफ़नाया जाने लगा। मृतक के अवशेष संभवतः कुछ समय के लिए शरीर को खुले में रखकर संचित किए जाते थे और अस्थियों को सिस्ट कहे जाने वाले विशेष रूप से तैयार किए गए पत्थर के संदूक में ज़मीन के नीचे रखा जाता था। ये सिस्ट (पत्थर के ताबूत) वृहत संरचना वाले होते थे जिनके निर्माण के लिए योजना और समुदाय में आपसी सहयोग के साथ-साथ बड़े-छोटे पत्थरों को अपेक्षित आकार देने हेतु कुशल कारीगरों और राज मिस्त्रियों की ज़रूरत पड़ती होगी। संभव है, मिस्र के तहख़ानों के समान ये बड़े पाषाण किसी व्यक्ति की मृत्यु से पहले योजनाबद्ध ढंग से तैयार किए जाते हों।

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. सही-गलत बताएँ:

(i) महापाषाण संस्कृति का आशय महापाषाण काल और उसके समकालीन अधिवास स्थलों के सांस्कृतिक अवशेषों से है।

(ii) बड़े पत्थरों से निर्मित सभी स्मारक महापाषाणकालीन हैं।

(iii) दक्षिण भारत में महापाषाणकालीन संस्कृतियों के कालक्रमिक विस्तार का पता लगाने में कठिनाई यह है कि महापाषाणकालीन आवासों से अब तक रेडियो-कार्बन तिथियाँ कम ही मिल पाई हैं।

(iv) पश्चिम एशिया में महापाषाणकालीन संस्कृतियों के उद्भव के संबंध में विद्वानों में कुल मिलाकर वैचारिक समानता है।

(v) भारत में महापाषाण संस्कृतियों का मुख्य संकेद्रण दक्कन, विशेषरूप से गोदावरी नदी का दक्षिणी भाग था।

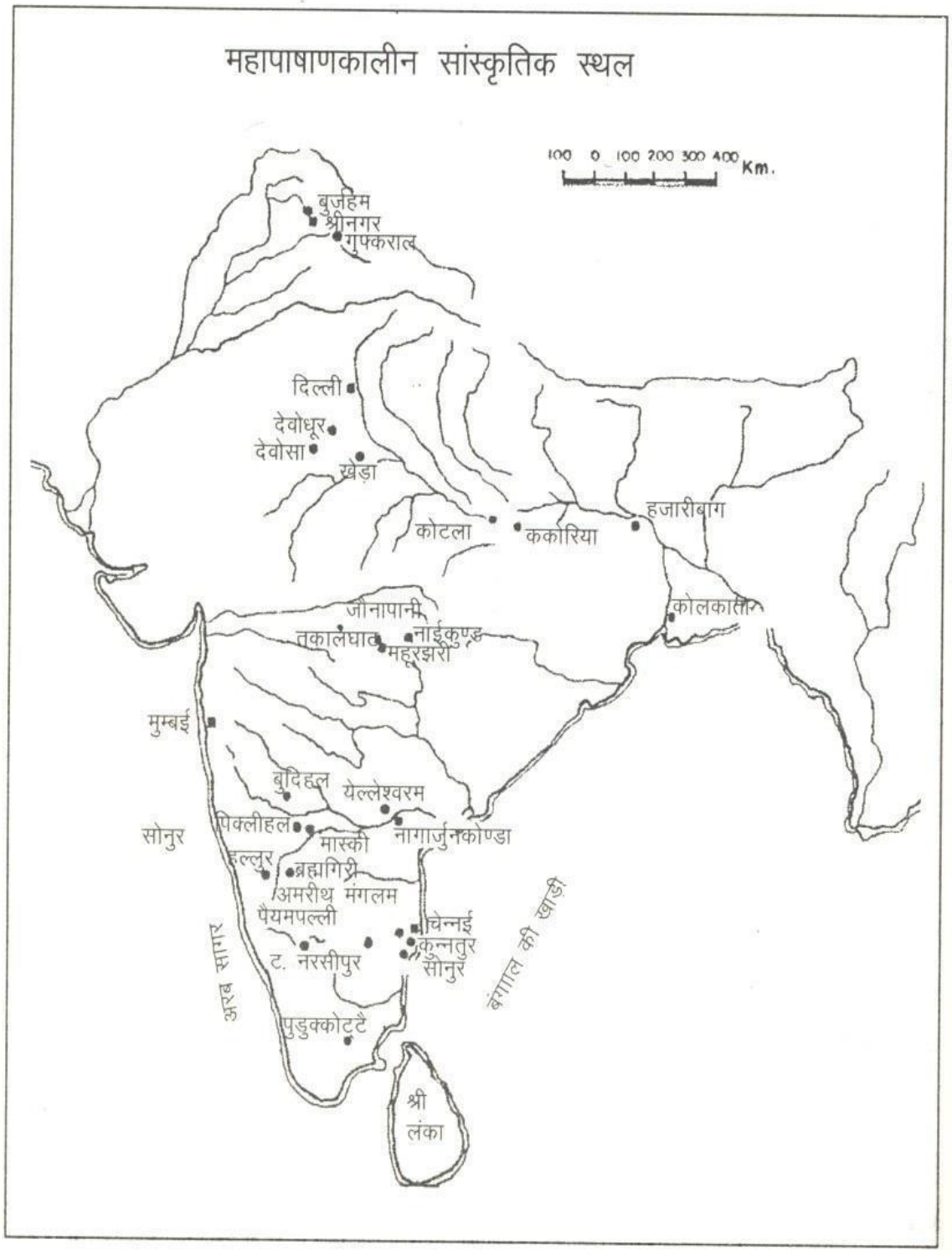

(स्रोत: वी.के. जैन, भारत का प्रागैतिहास और आद्य-इतिहास, 2008)

8.5 महापाषाणों का वर्गीकरण

दक्षिण भारत के महापाषाणों का सामान्य प्रारूप-वर्गीकरण सरल नहीं है क्योंकि महापाषाणकालीन दफ़न शवों के निपटारे की विविध विधियों का संकेत देते हैं। साथ ही, ऐसी भी महापाषाणकालीन संरचनाएँ हैं जिनकी बाह्य

आकृतियाँ तो एक जैसी हैं लेकिन उनकी भीतरी बनावट में फ़र्क है। तथापि, दक्षिण भारत के विभिन्न स्थलों पर की गयी छानबीन और खुदाइयों के आधार पर महापाषाणों को उनकी विशिष्ट आकृतियों की दृष्टि से विभिन्न श्रेणियों में रखा जा सकता है।

ये वर्गीकरण निम्नलिखित हैं:

1. चट्टानों को काटकर बनाई गयी गुफाएँ (Rock Cut Caves)
2. हुड स्टोन (Hood Stones) और हैट स्टोन (Hat Stones)/टोपी चट्टानें (Cap Stones),
3. दीर्घाश्म स्तंभ (Menhirs), मेनहिर श्रृंखला (Alignments) और वीथियाँ (Avenues),
4. गुंबदनुमा कब्र (Dolmenoid Cists),
5. स्तूपाकार वृत्त (Cairn Circles),
6. पत्थर के वृत (Stone Circles)
7. गर्त अंत्येष्टियाँ (Pit Burials)और
8. क़ब्रों के टीले (Barrows)

8.5.1 चट्टानों को काटकर बनाई गयी गुफाएँ

ये लैटेराइट (laterite) पर खोदी गयी हैं, जैसा कि पश्चिमी तट के दक्षिणी भाग में पाया गया है। चट्टानें काटकर बनी गुफा वाली ये समाधियाँ इस क्षेत्र की निजी विशेषताएँ हैं और केरल के कोचीन और मालाबार क्षेत्रों में हैं। अन्य क्षेत्रों में भी इनकी प्राप्ति हुई है। दक्षिण भारत के पूर्वी तट पर वे मद्रास के निकट ममल्लपुरम (महाबलिपुरम) में मौजूद हैं। दक्कन और पश्चिम भारत में वे एलिफैंटा, अजंता, एलोरा, कार्ले, भाजा इत्यादि में उपलब्ध हैं। लेकिन ये सब बाद की तिथि के हैं और इनका उपयोग पूर्णतः भिन्न उद्देश्यों के लिए किया जाता था, जबकि केरल में वे शुद्ध पाषाणकालीन और अंत्येष्टि संबद्ध हैं। अन्य भी विभिन्न परंपराओं से ताल्लुक रखते हैं।

केरल की चट्टानों को काटकर बनाई गयी अंत्येष्टिक गुफाओं में एक खुला कुआँ है, जो आयताकार अथवा वर्गाकार है। यह चट्टान के नीचे सीधा-खड़ा काटा गया है और फर्श तक उतरने के लिए इसमें सीढ़ियों की पंक्तियाँ बनी हुई हैं। ऐसी गुफाएँ चोव्वानूर, कक्कड़, पोर्कालम इत्यादि स्थलों पर पाई गयी हैं। इनके और विशाल नमूने एटयाल, कटटकंपाल इत्यादि स्थलों पर हैं। कोचीन क्षेत्र में इन चट्टानों को काटकर बनी अंत्येष्टिक गुफाओं के विशद अध्ययन के आधार पर वाई.डी. शर्मा (1956) ने गुफाओं को चार भागों में बांटा है: (i) केंद्रीय स्तंभ वाली गुफाएँ , (ii) बिना केंद्रीय स्तंभ वाली गुफाएँ , (iii) गहरे मुख वाली गुफाएँ , और (iv) बहु-प्रकोष्ठीय गुफाएँ।

8.5.2 हुड-स्टोन (कुदाईकल्लू) और हैट-स्टोन (टोप्पीक्कल्स)

ये चट्टानों को काट कर बनी गुफाओं के समवर्गी लेकिन उनसे सरल स्वरूप के हैं। कुदाईकल्लू गुंबद की आकृति वाले प्रसाधित लैटेराइट शिलाखंड के होते हैं जो प्राकृतिक चट्टान में काटे गए भूमिगत वृत्ताकार गर्त को ढकते हैं। इनमें सीढ़ियाँ बनाई जाती हैं। कुछ मामलों में हुडस्टोन के बदले हैटस्टोन अथवा टोप्पीक्कल होता है। यह तीन या चार चतुर्भज स्थिर ढाल वाले बड़े शिलाखंडों (clinostatic boulders) पर टिकी समतलोत्तल पट्टियाँ हैं। इसका पेंदा वर्गाकार और सिरा कटा हुआ होता है और इस पर टोप्पीक्कल (टोपी-कल) टिका रहता है। यह भस्म कलश और क़ब्र के अन्य साज-सामान से भरे भूमिगत दफ़न के गर्त को भी ढंकता है। इस खुले गर्त में, जिसमें अंत्येष्टि की जाती है,

चट्टान काटकर बनाई गयी गुफाओं जैसा अलग से कोई प्रकोष्ठ नहीं होता। आमतौर पर एक उन्नतोदर अथवा गुम्बद की आकृति वाले मृणपात्र ढक्कन अथवा पत्थर की पट्टियों से ढंके दफ़न के भस्म कलश के साथ-साथ कंकाली अवशेष, छोटे पात्र और भस्म मिलते हैं। इसी प्रकार के स्मारक पश्चिमी घाटों के समानान्तर फैले कोचीन और मालाबार के क्षेत्रों से कोयंबटूर और तमिलनाडु में नोय्याल नदी की घाटी तक मिले हैं।

8.5.3 दीर्घाश्म, मेनहिर शृंखला और वीथियाँ

दीर्घाश्म स्तंभ ज़मीन में सीधा-खड़ा गाड़े गए महापाषाणकालीन स्तंभ हैं। मात्र 3 फीट की कम ऊंचाई से लेकर ये 14-16 फीट तक की वृहत ऊंचाई वाले स्तंभ हैं। उनकी सामान्य ऊंचाई 3 से 6 फीट की है। वे या तो खुरदुरे साज-सज्जा वाले अथवा बिना किसी साज-सज्जा के हैं। दफ़न के स्थल पर अथवा उसके निकट स्थापित ये प्रस्तर स्तंभ मुख्यतः स्मारक स्वरूप हैं। इन दीर्घाश्म स्तंभों का उल्लेख प्राचीन तमिल साहित्य में नडुकल, पांडुकल अथवा पांडिल कहकर किया गया है। कुछ मामलों में ये ज़मीन में गाड़े जाने के बदले रोड़ियों के ढेर के सहारे मूल ज़मीन पर टिके हैं, जैसा कि मास्की में है। अन्य किस्म के महापाषाणकालीन दफ़न के समीपस्थ अनेक स्थलों, विशेषकर केरल और कर्नाटक के बेल्लारी, रायचूर और गुलबर्ग क्षेत्रों में अच्छी संख्या में मिलते हैं, लेकिन दक्षिण भारत के अन्य स्थलों में यत्र-तत्र ही पाए जाते हैं।

मेनहिर शृंखला दीर्घाश्म स्तंभों से घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं। प्रधान दिशाओं की ओर अभिमुख ये खड़े पत्थरों की शृंखला है। इनमें से कुछ पत्थर 14 से 16 फीट ऊंचे हैं और एक तो 25 फीट लंबा पाया गया है। लेकिन इनकी सामान्य ऊंचाई 3 से 6 फीट है। इनमें से कुछ तो सज्जित हैं। मेनहिर शृंखला केरल के कोमलपारथला और कर्नाटक के गुलबर्ग, रायचूर, नालगोंडा और महबूबनगर के अनेक स्थलों पर पाए जाते हैं।

वीथियों में मेनहिर शृंखला की दो अथवा अधिक समानांतर पंक्तियाँ शामिल हैं, इसलिए ऊपर में मेनहिर के वर्णित स्थलों पर जहाँ भी वे समानांतर रेखाओं में हैं, वीथियों की श्रेणी के स्मारक के अंतर्गत शामिल हैं।

8.5.4 गुंबदनुमा क़ब्र

गुंबदनुमा क़ब्र के अंतर्गत अनेक सीधे खड़े पत्थरों से बनी वर्गाकार अथवा आयताकार संदूकनुमा कब्रें आती हैं। क़ब्र के प्रत्येक ओर एक या अधिक ऐसे पत्थर हैं जो एक या अधिक पत्थरों का उपरिस्थ टोपी-कल को सहारा देता है। इसके फर्श पत्थर की पट्टियों से पाटे हुए रहते हैं। ये सीधे खड़े पत्थर और कैपस्टोन या तो पत्थर के रुखड़े खुरदुरे टुकड़ों से अथवा संसाधित चौड़े पत्थरों से बने होते हैं। ऐसे ताबूत चिंगलपुट के निकट सानूर और इस क्षेत्र के अन्य स्थलों में बड़ी संख्या में मिलते हैं। सज्जित पट्टियों से बने ताबूत अथवा पट्टी-ताबूत सामान्य किस्म के ताबूत हैं जो संपूर्ण दक्षिण भारत और उत्तर भारत के कुछ भागों में मिलते हैं। तमिलनाडु में इसके कई प्रकार हैं: (i) अनेक सीधे खड़े पत्थरों वाले ताबूत, (ii) चार सीधे खड़े पत्थरों वाले ताबूत जो प्रति-दक्षिणावर्त (contra-clockwise) हैं और जिसके पूरब और पश्चिम में यू (u) आकार के छिद्र होते हैं, (iii) चार सीधे खड़े पत्थरों वाले ताबूत जो प्रति-दक्षिणावर्त हैं और जिसके पूर्वी हिस्से के सिरे वाले कोने पर यू (u) आकृति के छिद्र हैं और (iv) चार सीधे खड़े पत्थरों वाले ताबूत जिनका विन्यास प्रति-दक्षिणावर्त है और जिनमें पट्टियों के वृत्त हैं।

8.5.5 स्तूपाकार वृत्त

स्तूपाकार वृत्त महापाषाणकालीन स्मारकों के अत्यंत लोकप्रिय प्ररूपों में एक हैं जो अन्य प्ररूपों के साथ संपूर्ण दक्षिण भारत में मिलते हैं। ये क़ब्र बड़े शिलाखंडो के वृत्त के घेरे के अंदर पत्थर की रोड़ियों के ढेर से बने होते हैं। भूमिगत दफ़न

के स्वरूप के आधार पर इन्हें तीन प्रकारों में बांटा जा सकता है: (i) गर्त वाले दफ़न, (ii) शव पेटिका में दफ़न, और (iii) चिता रूपी अथवा अन्य प्रारूप के भस्म कलश वाले दफ़न।

स्तूपाकार वृत्तों के अंतर्गत गर्त वाली अंत्येष्टियों में प्राकृतिक मिट्टी में गहरे गड्ढे खोदे जाते थे जो आमतौर पर वृत्ताकार, वर्गाकार अथवा आयताकार होते थे। कंकाली अवशेष और फर्नीचर इन गड्ढों के फर्श पर रखे जाते थे। फिर ये गड्ढे मिट्टी से ऊपरी सतह तक भर दिए जाते थे। यह मिट्टी या तो उस गड्ढे को खोद कर निकाली जाती थी अन्यथा कहीं और से लाई जाती थी। इस मिट्टी की भराई के ऊपर स्तूप (टीला) का ढेर रखा जाता था जो या तो पतली परत वाला अथवा जमीन की सतह से तीन से चार फीट ऊंचा होता था और उसे पत्थरों के वृत्त से घेर दिया जाता था। ऐसी गर्त- अंत्येष्टियाँ चिंगलपुट (तमिलनाडु), चित्रादुर्ग और गुलबर्ग ज़िलों (कर्नाटक) में अनेक स्थलों पर पाई गयी हैं।

शाब्दिक अर्थ में शव पेटिका मृण्मूर्ति से बना ताबूत है। शव पेटिकाओं वाले स्तूपाकार वृत्त-गर्त अंत्येष्टियों की तुलना में अधिक दूर तक फैले हैं। वे ऊपर में वर्णित गर्त अंत्येष्टियों जैसे हैं, लेकिन कंकाली अवशेष और फर्नीचर के ढेर एक आयताकार मृण्मूर्ति वाली शव पेटिका में रखे गए हैं। यह शव पेटिका आमतौर पर एक उन्नतोदर मृण्मूर्ति वाले ढक्कन से युक्त होती है जिसके पेंदे में पाद पंक्तियाँ और थोड़ा ऊंचे तल पर प्रायः कैपस्टोन होते हैं। कहीं-कहीं शव पेटिकाओं के पैर नहीं होते, लेकिन वे या तो मृण्पात्रा अथवा भांड पर आधारित होती हैं अथवा सीधे फर्श पर रखी जाती हैं। इस तरह की महापाषाणकालीन संरचनाएँ तमिलनाडु के दक्षिणी आर्कोट, चिंगल पुट और उत्तरी आर्केट ज़िलों और कर्नाटक के कोलार ज़िले में पाई जाती हैं। ये आंध्रप्रदेश के दक्षिणी जिलों में भी मिली हैं, यद्यपि वहाँ इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है।

स्तूपाकार वृत्तों के अन्दर वाली भस्म-कलश की अंत्येष्टियाँ ऊपर में वर्णित शव पेटिका वाली अंत्येष्टियों के ही भिन्न रूप हैं। ये दक्षिण भारत के अधिकांश हिस्सों में बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। भस्म-कलश, जिसमें अंत्येष्टि की जाती हैं, ज़मीन में खोदे गए गर्त में रखे जाते हैं। ये गर्त धरातल तक मिट्टी से भरे जाते हैं और बहुधा उन पर एक कैप-स्टोन रखा जाता है। इसके बाद सतह पर स्तूपों के ढेर, जो अंत्येष्टि का निशान होता है, पत्थरों के वृत्त से घेर दिए जाते हैं। मुख्य रूप से ये केरल में मिलते हैं, लेकिन तमिलनाडु के दक्षिणी आर्कोट, मदुरै, त्रिचुरपल्ली, कोयंबटूर, नीलगिरि, सामेल, चिंगलपुट, कर्नाटक के कोलार, बंगलोर, हासन, चित्रादुर्ग, बेलारी, रायचूर और गुलबर्ग ज़िलों, आंध्र प्रदेश के कई ज़िलों और महाराष्ट्र में नागपुर के आस-पास के क्षेत्रों में भी इनके पाए जाने की सूचना मिली है।

8.5.6 पत्थर के वृत्त

ये भारत में सर्वाधिक सामान्य तौर पर पाए जाने वाले महापाषाणकालीन स्मारक हैं। इनसे कुदाईकल्लू, टोप्पीक्कल इत्यादि महापाषाणकालीन स्मारकों के विविध रूपों, गर्त अंत्येष्टियों के विभिन्न प्रकारों, दीर्घाश्म स्तंभों, विभिन्न तरह के उर्ध्वाकार पत्थरों वाले ताबूतों, स्तूपाकार वृत्तों इत्यादि का पता चलता है। ये प्रायद्वीप के दक्षिणी छोर से लेकर नागपुर के क्षेत्र तक और उत्तर भारत के विभिन्न भागों में जहाँ महापाषाणकालीन स्मारकों का पता चला है, उपलब्ध हैं। लेकिन, इस श्रेणी में सिर्फ वैसे ही पत्थर के वृत्त शामिल हैं जिनमें वृत्तों के भीतर स्तूपों में पर्याप्त भराई नहीं की गयी और जो नाशपाती के आकार के भस्म कलशों अथवा शव पेटिकाओं के साथ अथवा उनके बग़ैर अंत्येष्टि गर्त वाले हैं। इस श्रेणी के स्मारक स्तूपाकार वृत्तों से सिर्फ इस अर्थ में भिन्न हैं कि इन वृत्तों में स्तूपों के ढेर होते भी हैं और नहीं भी। अन्य बातों में स्तूप वृत्तों के अंतर्गत ऊपर में वर्णित सभी तीन प्रकार इस श्रेणी में शामिल हैं। ऐसा लग सकता है कि स्तूपाकार वृत्तों और पत्थर के वृत्तों में इस विभेदीकरण का कोई ख़ास औचित्य नहीं है। लेकिन, चिंगलपुट के निकट सनूर जैसे कुछ स्थलों में ये अगल-बगल, लेकिन अलग-अलग समूहों में, मौजूद है। इसलिए, कुछ विभेदों के आधार पर वे पृथक श्रेणियों में रखे जाते हैं।

8.5.7 गर्त अंत्येष्टियाँ

अंत्येष्टि को नासपाती अथवा टकुए के आकार वाले भस्म कलशों में शव को बड़े शंकु अथवा हाथ के आकार वाले मर्तबान में अंत्येष्टिक सामग्रियों के साथ वैसे ही भूमिगत गर्त में दफ़न किया जाता है, जो ख़ास कर इसी उद्देश से कड़ी प्राकृतिक मिट्टी और कभी-कभी आधारभूत चट्टान में खोदे जाते हैं और फिर इन गढ़ों को भर दिया जाता है। ऐसी अंत्येष्टियों में सतह पर पत्थर के वृत्त, स्तूप के ढ़ेर, हुडस्टोन अथवा हैट (कैप) स्टोन, यहाँ तक कि दीर्घाश्म स्तंभ का भी कोई चिह्न नहीं होता। भस्म-कलश वाली इन अंत्येष्टियों में कोई महापाषाणकालीन संलग्नक नहीं होता। लेकिन चिंगलपुट ज़िले के अमृतमंगलम जैसे कुछ स्थलों में स्फटिक की चिप्पियाँ मिश्रित मिट्टी के कुछ छोटे-छोटे ढेरों से अंत्येष्टि के स्थान का पता चला है। सच पूछा जाए तो इस वर्ग की अंत्येष्टियों को महापाषाणकालीन अंत्येष्टिक स्मारकों के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता क्योंकि उनसे संबद्ध कोई भी महापाषाणकालीन बल्कि कोई पाषाणीय संलग्नक भी पत्थर के वृत्त अथवा कैपस्टोन के रूप में नहीं मिलता। लेकिन, ठेठ भटा पाषाणीय काला-सह-लाल बरतन और लौह सामग्रियों के उपयोग में लाने के कारण उनमें दक्षिण भारत की सामान्य महापाषाणकालीन विशेषताएँ तो परिलक्षित होती ही हैं। प्ररूप-वर्गीकरण की दृष्टि से क़ब्र की ये नियमित महापाषाणकालीन अंत्येष्टियों में प्राप्त अपने प्रतिरूपों के समरूप हैं। इसके अतिरिक्त, ये प्रायः उन्हीं क्षेत्रों में हैं जहाँ ठेठ महापाषाणकालीन अंत्येष्टियाँ पाई जाती हैं। वास्तव में, सतह की आकृति को छोड़कर भस्म-कलश वाली ये अंत्येष्टियाँ पाषाणीय व्यवस्था पत्थर या स्तूप वृत्त के अंतर्गत भस्म-कलश वाली अंत्येष्टियों से अन्य किसी रूप में भिन्न नहीं हैं। महापाषाणकालीन संलग्नकों से रहित भस्म-कलश वाली ये अंत्येष्टियाँ तमिलनाडु के आदिचनल्लूर, गोपालासामीपारंबु तथा दर्जनों अन्य स्थलों, खासकर मदुरै, त्रिचूरपल्ली, कोयंबटूर, सालेम और दक्षिणी आर्कोट ज़िलों के प्रत्येक गांव में पाई गयी हैं। हाँ, कर्नाटक और आंध प्रदेश में वे अवश्य ही कम हैं। उत्तर, पश्चिम, मध्य और पश्चिम भारत में उत्तरकालीन कांस्य-पाषाण काल के अनेक स्थलों में दिखलाई पड़ती हैं, लेकिन उनका संदर्भ दक्षिण भारत की भस्म-कलश वाली अंत्येष्टियों से पूर्णतः भिन्न है। लेकिन उत्तरवर्ती का पूर्ववर्ती से किसी-न-किसी रूप में गोत्रीय संबंध तो है ही।

8.5.8 क़ब्रों के टीले

क़ब्रों के टीले अथवा मिट्टी के टीले भूमिगत दफ़न से पृथक किस्म के हैं। वे वृत्ताकार अथवा गोल, आयताकार अथवा अण्डाकार हो सकते हैं। वे पत्थर के वृत्तों अथवा गड्ढों से घिरे भी हो सकते हैं और नहीं भी। भारत में इस तरह के स्मारक बड़ी संख्या में नहीं पाए गए हैं। फिर भी, कर्नाटक के हासन ज़िले में ऐसे स्मारक उपलब्ध हुए हैं।

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. निम्नलिखित की पहचान करें:

(i) ये लैटेराइट पर खोदी गयी हैं, जैसा कि पश्चिमी तट के दक्षिणी भाग में पाया गया है।
(ii) इसके अंतर्गत अनेक सीधे खड़े पत्थरों से बनी वर्गाकार अथवा आयताकार संदूकनुमा कब्रें आती हैं।
(iii) ये ज़मीन में सीधा-खड़ा गाड़े गए महापाषाणकालीन स्तंभ हैं।
(iv) ये भारत में सर्वाधिक सामान्य तौर पर पाए जाने वाले महापाषाणकालीन स्मारक हैं।
(v) अंत्येष्टि को नासपाती अथवा टकुए के आकार वाले भस्म कलशों में या शव को बड़े शंकु अथवा हाथ के आकार वाले मर्तबान में अंत्येष्टिक सामग्रियों के साथ भूमिगत गर्त में दफ़न किया जाता है।

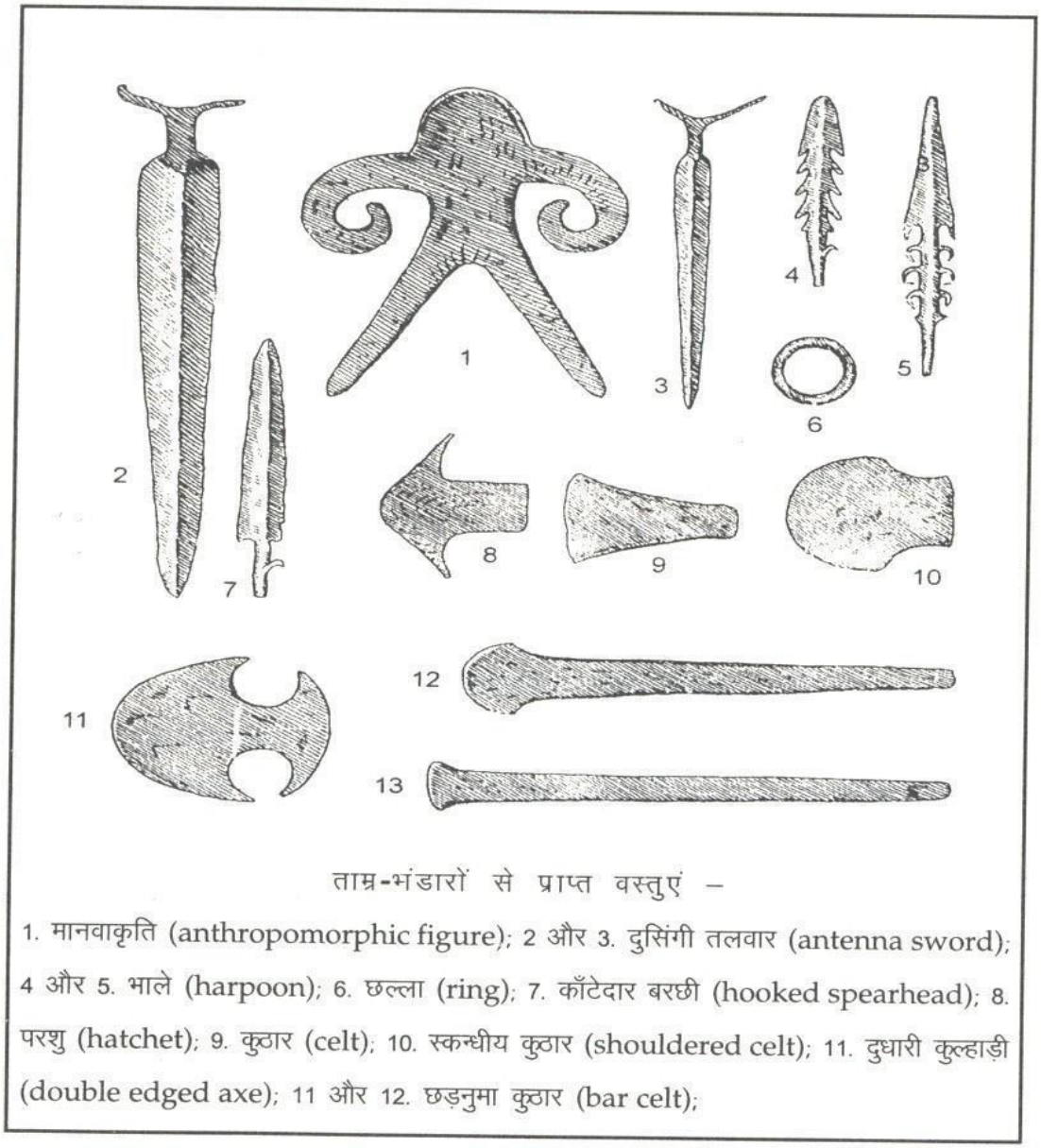

ताम्र-भंडारों से प्राप्त वस्तुएं –

1. मानवाकृति (anthropomorphic figure); 2 और 3. दुसिंगी तलवार (antenna sword); 4 और 5. भाले (harpoon); 6. छल्ला (ring); 7. काँटेदार बरछी (hooked spearhead); 8. परशु (hatchet); 9. कुठार (celt); 10. स्कन्धीय कुठार (shouldered celt); 11. दुधारी कुल्हाड़ी (double edged axe); 11 और 12. छड़नुमा कुठार (bar celt);

(स्रोतः वी.के. जैन, भारत का प्रागैतिहास और आद्य-इतिहास, 2008)

8.6 महापाषाणकालीन अंत्येष्टियों में क़ब्र की सामग्रियाँ

महापाषाणकालीन अंत्येष्टियों से अनेक प्रकार के पदार्थ मिले हैं जो महापाषाणकालीन संस्कृति के अध्ययन के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। ऐसा पाया गया है कि उत्तर पुरापाषाण काल से ही अनेक कारणों से मृतक को साभिप्राय अंत्येष्टि प्रदान की जाती थी। महापाषाणकालीन जन समाज चिरकालिक रीति-रिवाजों के अपवाद नहीं थे और इसीलिए उन्होंने विशाल और भारी श्रम-साध्य समाधियों के निर्माण के कष्ट उठाए। उन्होंने उन समाधियों को आवश्यक सामग्रियों से यथासंभव उपस्कृत किया। उन्होंने इस प्रथा को इसलिए आवश्यक समझा क्योंकि वे मृतकों के परलोक के जीवन में विश्वास करते थे। यही कारण है कि मृत्तकों को उनकी मूलभूत आवश्यकताओं की सामग्रियों के साथ बसर करने के लिए उपयुक्त स्थान प्रदान करते थे।

भारत, विशेषकर दक्षिण भारत में महापाषाण संस्कृति में क़ब्र के रखे जाने वाले उपस्कर में निम्नलिखित वस्तुएँ शामिल थीं- अनेक प्रकार के मृण्पात्र (मृदभांड) औज़ार और उपकरण जिनमें अधिकांश लोहे के और अनेक पत्थर या तांबे के बने होते थे, पक्की मिट्टी से बने मनके अल्पमूल्य पत्थर, सोना, तांबा, सीप इत्यादि जो गले के हार में पिरोए जाते थे अथवा कभी-कभार कान या नाक के ज़ेवर, बाजूबंद अथवा कंगन और मुकुट। साथ ही, जैसा कि भूसी की विद्यमानता से संकेतित होता है, धान तथा कुछ अन्य प्रकार के अनाज और पशुओं के कंकाली अवशेष भी मिले हैं।

8.7 जीविका पद्धति

उपलब्ध पुरातात्त्विक अवशेषों (पुरावानस्पतिक और पुराजंतु साक्ष्य) का यू.एस. मूर्ति (1993) द्वारा किए गए विस्तृत विश्लेषण और कतिपय पर्यावरणीय कारकों से उनके पारस्परिक संबंध एक ऐसी महापाषाण काल की अर्थव्यवस्था का संकेत देते हैं जो मुख्यतः कृषि-पशुचारी थी और उसमें अन्य प्रकार के शिल्प महत्वपूर्ण भूमिका निभार रहे थे तथा प्रत्यक्षतः उनमें सभी एक दूसरे से सहजीवी संबंध में जुड़े हुए थे। अब हम उस काल की जीविका पद्धति पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

8.7.1 कृषि

महापाषाण काल के दौरान उनकी अर्थव्यवस्था कृषि-आधारित थी। दरअसल, महापाषाणकालीन निर्माताओं ने सिंचाई पर आधारित कृषि की उन्नत विधियों को बड़े पैमाने पर लागू किया था। ई.एच.हंट और एन.आर. बनर्जी जैसे विद्वानों का मानना है कि महापाषाणकालीन निर्माताओं ने दक्षिण भारत में टैंक इरिगेशन (टंकी द्वारा सिंचाई) का प्रवर्तन किया और इस प्रकार कृषि व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। उनकी मान्यता इस साक्ष्य पर आधारित है कि महापाषाण (बड़े पत्थर) निरपवाद रूप से पहाड़ियों की ढाल अथवा उथली भूमि पर संकेंद्रित हैं जो सिंचाई के लिए उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि वे कृषि-योग्य भूमि पर अतिक्रमण नहीं करते। इन बड़े पत्थरों में कुछ, जो ग्रीष्म ऋतु में टैंकों के किनारे प्रतीत होते हैं, वास्तव में वर्षा ऋतु में पानी में डूब जाते हैं। फिर भी, प्रश्न उठता है कि यदि तटबंध वास्तव में थे तो क्या वे मानव निर्मित थे? क्या उसमें जमा किया गया पानी खेती के लिए पर्याप्त था? कुछ स्थल नदियों के तट पर हैं। क्या इसका अर्थ यह है कि महापाषाणकालीन जन समाज नदी के जल को कृषि के काम में ला रहा था? फिर कुछ स्थल तो जंगलों में मिले हैं जिनमें न तो सिंचाई के लिए भूमि है और न कोई कुंड। अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ कुंड नहीं हैं।

उपरोक्त साक्ष्य के आधार पर बी. नरसिंहैया मानते हैं कि दक्षिण भारत में कुंड सिंचाई का प्रवर्तन करने वाले महापाषाणकालीन निर्माता नहीं थे। निश्चय ही यह एक सुविदित तथ्य है कि प्रागैतिहासिक काल से ही मानव समाज ने वहाँ रहना शुरू किया जहाँ उसके निर्वाह के लिए जल का चिरस्थायी स्रोत मौजूद था। ये कुंड, इसलिए, ऐसे प्राकृतिक सरोवर रहे होंगे जो उनकी दैनिक आवश्यकताओं के लिए जलापूर्ति तो करते थे, लेकिन सिंचाई के लिए नहीं। फिर भी, अधिकांश विद्वानों का विश्वास है कि ये सरोवर उनके घरेलू जीवन और उनकी फ़सलों के लिए जल की आपूर्ति करते थे। उनके अनुसार कुंड-सिंचाई प्रणाली दक्षिण भारत में निश्चय ही महापाषाणकालीन निर्माताओं द्वारा लागू की गयी और यह प्रणाली 2500 वर्षों से अधिक अब तक चल रही है।

इन अति प्रबुद्ध और व्यवहार-कुशल समुदायों ने यह ध्यान में रखा कि उपजाऊ कृषि-योग्य भूमि उनकी क़ब्रों के अतिक्रमण के कारण बेकार नहीं हो जाए। अनुर्वर गिरिपीठ, पथरीली और कंकड़ीली भूमियों को उन्होंने अपने मक़बरों के लिए इस्तेमाल किया जबकि नीचे की समतल भूमि को कृषि के लिए सुरक्षित रखा गया। लेकिन शायद उन्होंने यह भी सोचा होगा कि उनके मृत पूर्वजों की आत्मा न सिर्फ उनकी कृषि-भूमि की रखवाली करेगी, वरन उसे धन-धान्य से परिपूर्ण भी कर देगी। इसीलिए उन्होंने तमिलनाडु के चिंगल पुट ज़िले में उत्तरामेरूर में अपनी कृषि-भूमियों के बीच में विशाल, परंतु रिक्त, डोल्मेन (पत्थर की मेज) बनाए।

चावल, जो मुख्यतः सिंचाई आधारित फ़सल है, निश्चय ही उनका मुख्य आहार था। धान की भूसियाँ और बिरले धान के दानों की सूचना संपूर्ण क्षेत्र में अनेक खोदी गयी क़ब्रों से मिली है। जैसा कि संगम साहित्य ने अनुप्रमाणित किया है, चावल अति प्राचीन काल से ही दक्षिण भारत के लोगों का मुख्य आहार रहा है और आज भी है। पुरावानस्पतिक साक्ष्य से संकेत मिलता है कि दक्षिण भारत के महापाषाण काल में अन्य फ़सलें भी उपजाई जाती थीं, जैसे- रागी, गेहूं, कोदो, बाजरा, संबुल, सेम, कुलथी, मसूर, बेर, मटर, सांक्रू, चुकंदर, रुई, इत्यादि।

8.7.2 पशुचरिता

बीसियों महापाषाणकालीन स्थलों से मवेशी, भेड़, बकरी, कुत्ता, सूअर, घोड़ा, भैंस, मुर्गा, गदहा इत्यादि पालतू पशुओं के अवशेषों के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। विभिन्न स्थलों में इन जीव-जंतुओं के अवशेषों के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि इन स्थलों पर मवेशी (भैंस समेत) की अन्य पालतू जानवरों पर प्रधानता है। इन सभी स्थलों में निरपवाद रूप से कुल जीव-जंतुओं के समूह में इनकी संख्या 60 % से अधिक है। इससे दो महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है। प्रथम, पूर्व के नवपाषाण की पशुपालन की परंपरा जारी रही और, द्वितीय, ढोर पशुचारिता, भेड़/बकरी की पशुचारिता नहीं, महापाषाण समाज का प्रधान व्यवसाय था।

पालतू सूअरों और मुर्गियों के अवशेष की उपस्थिति कई स्थलों पर छोटे पैमाने पर सूअर पालन और मुर्गी पालन के संकेत देती है।

8.7.2 आखेट और माहीगिरी (Hunting and Fishing)

बाणाग्रों, बरछों और भालों जैसे आखेट के उपकरणों से ज़ाहिर होता है कि शिकार से खाद्य-आपूर्ति में वृद्धि की जाती थी। बड़े पैमाने पर पत्थर के गोलों की प्राप्ति से अभिप्रमाणित होता है कि ढेलवांस शायद महापाषाणकालीन लोगों द्वारा आखेट के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला अन्य उपकरण था। विभिन्न स्थलों से जंगली सूअर, लकड़बग्घा, कंकाली अवशेषों से ज़ाहिर होता है कि इनका शिकार किया जाता था और ये आहार प्रणाली के अंग थे। आज भी इन वन्य प्राणियों में अनेक उन क्षेत्रों में अथवा उनके इर्दगिर्द पाए जाते हैं। टकालघाट से पक्की मिट्टी के जाल के निमज्जक, खापा और तांगल से बंसी तथा येल्लेश्वरम से मछली के वास्तविक कंकाली अवशेष के साक्ष्य दर्शाते हैं कि महापाषाण के लोग मछली भी मारते थे।

8.7.4 प्रौद्योगिकी: उद्योग और शिल्प

घरेलू और सांस्कृतिक मामलों में अन्य सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सहायक आर्थिक कार्य-कलाप की कुशल संरचना अत्यावश्यक है। उद्योग धंधों से संबंधित क्रियाकलाप- लोहारी, बढ़ईगिरी, कुंभकारी, मणिकारी, डलिया निर्माण और प्रस्तर-कर्तन, जो महापाषाण समाज के अन्य आर्थिक कार्य थे - का वर्णन नीचे दिया जा रहा है क्योंकि इनमें और उत्पादन की प्राथमिक विधियों में अन्योन्याश्रय संबंध है।

(अ) धातु

ऐसे अनेक महापाषाणकालीन स्थल हैं जिनके बारे में पूरी संभावना है कि वे लोहा, तांबा, सोना, चांदी, इत्यादि धातुओं के उत्पादन-स्थल हैं। इन स्थलों पर अथवा उनके निकट कुठालियों, पिघलाने की भट्टियों, चिकनी मिट्टी की शुंडिकाओं के रूप में प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य, लौह अयस्कों के टुकड़ों और लोहे तथा तांबे के मैल जैसी सामग्रियों की विद्यमानता और प्राचीन तांबे, लोहे के खदानों अथवा खनिज संसाधनों के निशान लौह-कर्म के द्योतक हैं। उपलब्ध पुरातात्त्विक साक्ष्य कुठारों, फालों, फावड़ों, हंसियों, कुदालों, इत्यादि धातु-निर्मित उपकरणों के उपयोग का संकेत देते हैं। कुठारों का उपयोग कुंदों के काटने अथवा जंगलों को साफ करने के लिए होता था। खेती के लिए फावड़ों का

उपयोग अनेक स्थलों पर दर्ज किया गया है। यह विशेष प्रकार का उपकरण, जो आधुनिक धारदार हेंगा से मिलता-जुलता है, कन्नड़ में कुंटी और तेलगू में गुणलका कहलाता है। अनके स्थलों से फालों के उपयोग से महापाषाणकालीन लोगों के कृषि-कार्य संचालन हेतु तकनीकी आधार का साक्ष्य मिलता है। हाल के एक अध्ययन (1986) भी आद्य-ऐतिहासिक और आरंभिक-ऐतिहासिक भारत के दौरान कृषि प्रौद्योगिकी की विस्तृत जानकारी को उजागर करता है।

उस युग में सबसे प्रमुख धातु लोहा था जिसका उपयोग विभिन्न आकृतियों और विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, कृषि-कार्य हेतु औजारों और उपकरणों के निर्माण तथा दैनिक घरेलू आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किया जाता है। लौह पदार्थों की प्रचुर विविधता से हमें इनकी अर्थव्यवस्था के पक्षों और उनकी जीवन-शैली को समझने में पर्याप्त मदद मिलती है। ये पदार्थ दर्शाते हैं कि कृषि उनका प्रधान पेशा था क्योंकि कृषि कार्यों के लिए आवश्यक अनेक औज़ार विभिन्न स्थलों पर पाए गए हैं। तांबे का उपयोग बरतनों और ज़ेवरों के निर्माण में होता था। ज़ेवर सोने के भी बनाए जाते थे। चांदी का उपयोग बहुत कम होता था। यद्यपि आदिचान्नल्तू की अंत्येष्टियों और नीलगिरि से कांस्य की सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं, इन दो स्थानों पर कांस्य का उपयोग अपवाद स्वरूप ही है और इसमें संदेह है कि ये स्थानीय स्तर पर बनाए जाते थे।

धात्विक संसाधनों का कुशल उपयोग एक अन्य कारक पर निर्भर करता है और वह कारक है ईंधन की उपलब्धता। फिर वह ईंधन ऐसा हो जो अपेक्षित डिग्री का ताप पैदा कर सके। इन प्राक-औद्योगिक प्रगालकों द्वारा सर्वाधिक प्रचलित किस्म के ईंधन संभवतः काठ कोयला, गोबर और धान की भूसी थे।

(ब) काष्ठ शिल्प/बढ़ईगिरी

काष्ठशिल्प से संबद्ध प्रविधि-प्रथा की विविध वस्तुओं से महापाषा कालीन जनसमाज के एक अन्य कुशल पेशे का संकेत मिलता है। साक्ष्य दर्शाता है कि कुठार, छेनी, मेख, बसूला, निहाई, बेधक, हथौड़ा इत्यादि लकड़ी पर काम करने के मुख्य औज़ार थे। महापाषाण स्थलों से प्राप्त पुरा-वानस्पतिक साक्ष्य से पता चलता है कि बबूल, ब्रासिका, स्टेलारिया, सागौन, शीशम जैसी कुछ पौधों की प्रजातियों की जानकारी इन समुदायों को थी। लकड़ी के बने हल को खेती के लिए उपयोग में लाने की बात से इनकार नहीं किया जा सकता जैसा कि एम.के. धावलिकर और जी. पासेल ने माना है। आज भी रुई की काली मिट्टी वाले क्षेत्र में लकड़ी से बने हल, जो बड़ा और भारी होता है, से जुताई आम बात है।

लकड़ी का उपयोग कुटीरों के निर्माण में खंभों के लिए भी किया जाता था। इन कुटीरों के छाजन लकड़ी के खंभों पर ही टीके होते थे। ब्रह्मगिरि और मास्की में खंभों के छिद्र मिले हैं जिनसे घरेलू भवनों के निर्माण में काष्ठ की उपस्थिति का पता चलता है। एस.बी. देव जैसे कुछ विद्वानों के मतानुसार काष्ठ-आधारित स्थापत्य कला काफी विकसित थी। काष्ठ को संसाधित किया जाता था और गूथने अथवा जोड़ बिठाने के लिए चूलें बनाई जाती थीं। इन प्राविधिक प्रचलन वाले सामानों की विद्यमानता से निर्माण तथा अन्य कार्यों के लिए काष्ठ के प्रचुर उपयोग का संकेत मिलता है।

(स) मृत्तिका शिल्प (मृण्पात्र)

महापाषाण संस्कृति से संबद्ध मृदभांड काला-और-लाल बरतन, पॉलिशदार काले बरतन, अभ्रकी लाल बरतन, धूसर बरतन, लाल-धूसर लेपित चित्रित बरतन इत्यादि हैं।

काले-और-लाल बरतन, जो चाक मृदभांड हैं, की आकृतियाँ मुख्य रूप से उपयोगिता पर आधारित हैं और इनके अनेक रूप महापाषाणकालीन समाज में संभवतः बरतन व भांड़ों के रूप में काम में लाए जाते थे। इन बरतनों में प्रधान आकृतियाँ थीं- विविध प्रकार के कटोरे, थालियाँ, ढक्कन या आवरण, कलश, चिलमचियाँ, पायदार मर्तबान, नलिका

समेत टोंटीदार बरतनें और शंकु के आकार वाले बरतन।

पॉलिशदार काले बरतन भी चाक-निर्मित हैं। इनकी प्रधान आकृतियाँ है : दीर्घीकृत कलशें, ट्यूलिप की आकृति वाले ढक्कन, कीप की आकृति वाले ढक्कन, चषक, टोंटीदार बरतन, वृत्ताकार रिंग-स्टैंड, मूठदार और किनारेदार ढक्कन जिस पर किसी पक्षी या पशु की स्तूपिका बनी होती है।

लाल बरतन में आकृतियाँ पूर्णतः उपयोगिता आधारित हैं। इनमें पायदार बरतन, दूहरे मूठ वाले ढक्कन, रिंग-स्टैंड, गुंथे हुए आंटे की थालियाँ और कलश शामिल हैं।

इन सभी प्ररूपों में सर्वाधिक आकर्षक हैं लहरदार रेखाओं और अन्य सजावट वाले धूसर लेपित चित्रित मृदभांड। उनमें यदा-कदा पकाए जाने के बाद के भित्ति-चित्र मिलते हैं। धूसर लेपित मृदभांड अनेक स्थलों से प्राप्त हुए हैं।

अभ्रकीलाल मृदभांड विशिष्ट आकृति वाले हैं। गोलाकार शरीर और कीप की आकृति के मुंहवाले बरतन, गुंथे हुए आंटे की थालियां, चिलमिची आदि ऐसे ही मृदभांड हैं। रज्जु-बंध और चित्रित अभिकल्प वाले अलंकरण भी पाए गए हैं।

मृण्पात्र (मृदभांड) की इन सारी किस्मों की बनावट बारीक है। ये सभी अच्छी तरह चूर कर महीन की गयी चिकनी मिट्टी से बने हैं जिनमें बालू या अन्य किसी कंकड़ीली चीज़ लेशमात्र भी नहीं है। ये आम तौर पर खुले भट्ठों में कम तापमान पर अच्छी तरह पकाए जाते थे। आर.ई.एम. व्हीलर के विचार में ये मृण्पात्र संभवतः धीमी गति वाले चाक पर बनाए जाते थे।

कम-से-कम दो स्थलों - पोल कोंडा और बेल्टाडा बनहाली - में प्राप्त (मृदभांड) के भट्ठे इस शिल्प के प्रचलन के समर्थन में साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यद्यपि दोनों स्थलों के साक्ष्य नवपाषाण स्तर के उत्तरकाल के हैं, महापाषाण स्तर के द्योतक निवास स्थानीय निक्षेप में निरंतरता हमें यह मान लेने की सुविधा प्रदान करती है। खाने-पीने के काम में आने वाले बरतन की अलग-अलग बनावट वाली विविध आकृतियों, खाना पकाने के बरतनों और इन मृण्पात्रों के निर्माण में तकनीकी कुशलता के उपयोग से पेशेवर कुंभकार समुदाय और एक महत्वपूर्ण आर्थिक क्रिया के रूप में मृण्पात्रा (मृदभांड) निर्माण का संकेत मिलता है।

(द) विविध: मनके बनाना, चटाई बुनना, पत्थर काटना, मृण्मूर्तिका बनाना, शिलाखंड संबंधी कला इत्यादि

महापाषाणकालीन समाज के लोग अपने व्यक्तिगत अलंकरण के लिए पक्की मिट्टी के मनकों से लेकर परिष्कृत ढंग से बने सोने के आभूषण तक अनेक वस्तुओं का उपयोग करते थे। संसाधनों के क्षेत्र में कुछ महापाषाणकालीन स्थलों की स्थानीय विद्यमानता और दो पाषाणीय स्थलों - महुरझारी और कोडुमनाल - पर मनके बनाने के उद्योग (जो अभिप्रमाणित हो चुका है) इस शिल्प के चलन का संकेत देते हैं। भारी संख्या में विविध प्रकार के मनकों की उपलब्धता से ज़ाहिर होता है कि उनके निर्माण में तरह-तरह की उत्कृष्ट सामग्रियाँ काम में लाई जाती थीं : जैसे- गोमेद, कार्मेलियन, कैल्सेडनी, फेल्डस्पार, मूंगा, बिल्लौर, तामड़ा, सूर्यकांत, ट्रेमोलाइट (कैल्शियम-मैग्नेशियम युक्त एक प्रकार का खनिज), मैग्नेसाइट (एक प्रकार का खनिज जो जलने पर तीव्र प्रकाश देता है), अलंकृत मृण्पात्रा, सर्पेन्टाइन, सीप, सेलखड़ी, जंबुमणि, पक्की मिट्टी, इत्यादि। अल्पमूल्य पत्थरों के अतरिक्त कुछ आकृतियाँ स्वर्ण, सीपी, शाणाश्म (हार्न), अस्थि और शीशे पर भी बनाई गयी हैं।

मनगोंडन हाल्ली और नागार्जुनकोंडा जैसे स्थलों पर मर्तबानों के तल पर चटाई की छापों से जाहिर होता है कि लोग चटाइयाँ बुना करते थे।

प्रस्तर-कर्तन के भी अनेक प्रमाण मिले हैं, यथा- बड़गांव खुर्द (महाराष्ट्र) में पत्थर की द्रोणिका पर देखी गयी छेनी की छापें, केरल क्षेत्र में चट्टान काट कर बनाई गयी प्रकोष्ठ समाधियों, बड़ी खूबसूरती से काटा गया लैटेराइट, उत्तरी कर्नाटक में प्रकोष्ठ समाधियों के निर्माण विधि में ए. सुंदर का क्षेत्र-पर्यवेक्षण। इसके अतिरिक्त अनेक महापाषाणकालीन स्थलों पर मूसल, खरल, पीठदार चक्की, इत्यादि घरेलू प्रस्तर कलाकृतियाँ मिली हैं।

क़ब्रों से प्राप्त पक्की मिट्टी की चाकों, लघुमूर्तियों, खेल के मोहरों, छोटे-छोटे बरतन-बासनों से बच्चों के मनोरंजन के लिए खिलौनों के उपयोग का पता चलता है। इनमें सबसे विलक्षण है टकुए के चाक से मिलती-जुलती पक्की मिट्टी की चाक जो संभवतः हेपस्काच के खेल में इस्तेमाल की जाती थी। इसका संकेत एक बच्चे की क़ब्र में पाई गयी चाक से मिलता है।

प्रायद्वीपीय भारत में चट्टान वाले आश्रय स्थानों पर उत्कीर्णों और चित्रणों के आधार पर एस.पी. टंपी, वाई. मठपाल और के.एल. जॉन जैसे विद्वानों ने दावा किया है कि इन चित्रणों के कर्ता महापाषाणकालीन निर्माता ही थे। संगम साहित्य में भी चित्रण और लेखन के साथ समाधि-प्रस्तरों के उत्थापन का साक्ष्य है। लेकिन जब तक इन चित्रणों के रंजकों की स्पष्ट तिथि निर्धारित नहीं की जाती, इनकी प्राचीनता और स्रोत का सही पता लगना मुश्किल है।

इस प्रकार, हम यह मान सकते हैं कि महापाषाणकालीन लोग एक उन्नत, विशेषीकृत कृषि और पशुचारिता पर आधारित अर्थव्यवस्था चलाते थे। विभिन्न प्रकार के आर्थिक प्रतिमान, जो उस समय प्रचलित थे और आज भी हैं, एक दूसरे से पृथक न होकर परस्पर सहजीवी संबंध में आबद्ध थे।

8.8 व्यापार और विनिमय नेटवर्क

खुदाइयों से क़ब्र की सामग्रियों में अनेक गैर-स्थानीय वस्तुएँ बरामद हुई हैं जिनसे मालूम होता है कि महापाषाण काल में विनिमय के कारोबार होते थे। आर.एन. मेहता और के.एम. जार्ज के अनुसार तटीय स्थलों से, जो प्राचीन काल में विनिमय-स्थल थे, व्यापारिक गतिविधियों का पता चलता है। इसी प्रकार, कांस्य की उपलब्धता तांबे और कहीं से टिन अथवा आर्सेनिक के मिश्रण के आगमन का संकेत देती है। ग्रीक-रोमन रचनाओं और तमिल ग्रंथों से स्पष्ट है कि कुछ आगे चलकर समुद्रवर्ती विनिमय उन्हें प्राप्त करने का प्रमुख स्रोत था। आर्किमेडु जैसे अनेक स्थलों पर प्राप्त दांतेदार बरतनों, दो हत्था कलशों और अन्य मृण्पात्रीय सामग्रियों के पुरातात्त्विक अवशेष इसके गवाह हैं। एच.पी. राय, राजन गुरूक्कल, आर. चंपकलक्ष्मी तथा अन्य विद्वान पहले ही प्रमाणित कर चुके हैं कि सामानों का अंतर-क्षेत्रीय और अंतःक्षेत्रीय विनिमय दक्षिण भारत में ईसा की तीसरी सदी पूर्व तक पूरी तरह स्थापित हो चुका था। माल-उत्पादन में क्षेत्रीय भिन्नता और स्थानीय कच्ची सामग्रियों/परिष्कृत मालों की अनुपलब्धता के कारण गंगाई क्षेत्र के साथ-साथ समुद्रपारीय जगत से लंबी दूरी वाले व्यापारियों की पहल पर लंबी दूरी के कारोबार का श्रीगणेश हो चुका था। जो विनिमय नेटवर्क आरंभिक लौह युग में आरंभिक अवस्था में था, वह आंतरिक गतिशीलता और बाहरी प्रेरणा दोनों- उपमहादेश के अन्य भागों के साथ-साथ भूमध्यसागरीय क्षेत्र में बढ़ती मांग- के कारण आगे की शताब्दियों में फैलता गया। बी. मारिस, एस. गुप्ते और डी. स्टाइल्स जैसे अनेक विद्वानों का मत है कि यह स्थल और समुद्र का मिला-जुला नेटवर्क था और दोनों ओर के मध्यवर्ती और असमान रूप से विकसित लोगों में लंबी दूरी के व्यापारी विनिमय कार्य में संलग्न थे। इस प्रकार, शिकारी-संग्राहक के रूप में महापाषाणकालीन लोग और लौह युग के बदलते कृषक भी इस विनिमय नेटवर्क में सक्रिय रूप से शामिल थे।

8.9 सामाजिक संगठन और अधिवास पद्धति

यह पुरातत्त्वशास्त्र नहीं अपितु मानव विज्ञान है जो हमें इस संभावना को मानने का साक्ष्य प्रदान करता है कि आदिम जातीय वंशज समुदायों के उन सुदूर कालों में उत्पादन के संबंध गोत्र और रिश्तेदारी के बंधनों का अतिक्रमण कर चुके थे। कुल मिलाकर वे शिकार-संग्राहक और बदलते कृषि-कार्य जैसे जीविका के विभिन्न स्वरूपों के साथ-साथ कतिपय शिल्प-सामग्रियों के उत्पादन की भौतिक संस्कृति की सूचना देते हैं। इन सबका वर्णन इसी पाठ के जीविका पद्धति शीर्षक अनुच्छेद में किया जा चुका है।

यद्यपि महापाषाणवाद और उससे संबद्ध संग्रहों के विचार में सामान्यता थी, अंत्येष्टियों के बाहरी और आंतरिक स्वरूपों में जो भिन्नता दिखाई पड़ती है उस से ज़ाहिर होता है कि महापाषाणकालीन लोगों का लौहयुगीन समाज समजातीय स्वरूप का नहीं था। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, कुछ अपेक्षाकृत विशाल अंत्येष्टियों का स्वरूप दफ़नाए गए लोगों की हैसियत में विभेदीकरण और पद विभाजन का सूचक है। अंत्येष्टियों के प्ररूप और अन्तर्वस्तु में भिन्नता से दफ़नाए गए व्यक्तियों के गुण-धर्म में कुछ-न-कुछ विशेषताओं के संकेत मिलते हैं। अनेक स्थलों पर चट्टान काट कर बनाई गयी बहुप्रकोष्ठीय समाधियों जैसे विस्तृत दफ़नों की संख्या सीमित है। साथ ही, इनसे कांस्य या स्वर्ण की बनी कलाकृतियाँ बिरले ही मिली हैं। इसके विपरीत, अंत्येष्टियों में से अनेक बहुत कम कलाकृतियों वाली सरल भस्म-कलश अंत्येष्टियाँ हैं। बड़ी अस्थि-कलश अंत्येष्टियों समेत विशाल अंत्येष्टियों में मृत्तिका पात्रों की विविधता, उच्च गुणवत्ता और बारीकी भी सामाजिक हैसियत में भिन्नता का संकेत देती है। दक्षिण भारत के महापाषाण समाज पर जे.एम. ओशिया और यू.एस. मूर्ति द्वारा किए गये अध्ययन सामान्य तौर पर मानकर चलते है कि मरने पर व्यक्तिगत बरताव व्यक्ति के जीवन की हैसियत और उसके अपने समाज के साथ पूर्वकथनीय संबंध का संकेत देता है।

महापाषाणकालीन लोग बड़ी संख्या वाले गांवों में रहते थे। यद्यपि उनके मन में नगर जीवन के प्रति झुकाव था, लेकिन वे अपने गंगा की घाटी के समकालीनों के समान बड़े नगरों के निर्माण के प्रति दीर्घसूत्री थे। आबादी का आकार हाथ से काम करने वाले श्रमिकों के उस संगठित समूह से ज़ाहिर होता है जो पत्थर के ताबूत, पत्थर की मेजें तथा अन्य किस्म के महापाषाणकालीन निर्मितियों में विशाल शिलाखंडों को ढोने, जमा करने के लिए अथवा सिंचाई के उद्देश्य से वर्षा के जल को जमा करने हेतु उसके मार्ग में कंकड़ और मिट्टी के बड़े ढेर खड़ा करने के लिए उपलब्ध था। आबादी का बड़ा आकार इस तथ्य से भी साबित होता है कि ढेर-सारी क़ब्रों वाले विस्तृत समाधि स्थल, जिनमें एक से अधिक और कहीं-कहीं तो 20 व्यक्तियों के अवशेष मिले हैं, खोजे गए हैं।

महापाषाणकालीन लोगों के घर संभवतः खर-पतवार, फूस अथवा सरकंडों से छाए जाते थे और लकड़ी के खंभों पर टिके होते थे जैसा कि खुदाई किए गए स्थलों में खंभों के सूराख की उपस्थिति से ज़ाहिर होता है। ब्रह्मगिरि और मास्की में ऐसे सूराख मिले हैं जो साधारण भवनों के निर्माण में लकड़ी के उपयोग का संकेत देते हैं। एस.बी. देव जैसे कुछ विद्वान महापाषाण काल में काष्ठ-आधारित स्थापत्य की विकसित अवस्था में विश्वास करते हैं।

पूर्ववर्ती नवपाषाण/कांस्य-पाषाण अवस्था से महापाषाण काल में अधिवासों के आकार और संख्या में बढ़ोतरी तथा विभिन्न धात्विक संसाधनों का बढ़ता उपयोग निश्चय ही स्वतंत्र विकास क्रम नहीं था। जैसा कि शेरात (1581) दावा करते हैं यह हल के द्वारा खेती के विस्तार के प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है जिसके फलस्वरूप अधिवासों की संरचना और विस्तार में भारी परिवर्तन हुए। लेकिन, महापाषाण काल में भूमि के उपयोग की विधियों से संबंधित अध्ययनों के अभाव में इस विषय में प्रामाणिक तौर पर कुछ कहना मुश्किल है। तथापि, इन स्थलों के स्थानीय संदर्भ और वितरण पद्धति व्यापक कृषि और आवास की विधि की ओर बढ़ती प्रवृत्ति के संबंध में यू.एस. मूर्ति द्वारा उपलब्ध आंकड़े दृढ़ संकेत देते हैं। मूर्ति ने बड़ी नदियों अथवा उनकी सहायक नदियों के किनारे अधिकांश स्थलों की

अवस्थिति तथा प्रधान जल-संसाधनों से 10-20 किलोमीटर की दूरी के भीतर अधिकांश दफ़न-स्थलों की अवस्थिति के आधार पर ग्राम्य ऋतु-प्रवास की संभावना व्यक्त की है। नदी की घाटियों और द्रोणियों में स्थलों के अधिकतम संकेंद्रण तथा काली मिट्टी, बलुआही-दोमट मिट्टी वाले क्षेत्रों को तरजीह दिए जाने से भी इस दावे की पुष्टि होती है। वर्षा वाले क्षेत्रों में जहाँ औसत सालाना वर्षा 600-1500 मिलीमीटर है, इस स्थलों का विस्तार भी यही निष्कर्ष देता है।

8.10 धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ

क़ब्रों का जटिल स्थापत्य, क़ब्र की सामग्रियों तथा अन्य धातु और पत्थर के पदार्थ महापाषाणकालीन लोगों के धार्मिक विश्वास उजागर करते हैं। महापाषाणकालीन लोगों को मृतकों के प्रति गहरी श्रद्धा थी जैसा कि भारी प्रयास और अनुराग से निर्मित इन स्मारकों से ज़ाहिर होता है। उनका विश्वास था कि मृत्यु के उपरांत मृतक जीवन संपन्न होते हैं और इस विश्वास के आधार पर जीवित उन्हें उनकी आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करते थे। क़ब्र की सामग्रियों से ज़ाहिर होता है कि वे सामग्रियाँ मृतकों की जीवितावस्था में उन्हीं की थीं और चूंकि परलोक में उन्हें उनकी आवश्यकता होगी, इसलिए वे मर्त्य अवशेषों के साथ दफ़नाए जाते थे। ये सारी बातें निश्चित रूप से यही प्रतिबिंबित करती हैं कि मृतकोपासना का लोगों पर गहरा प्रभाव था।

जीववाद में उनका विश्वास जीववादी पूजा-पद्धति से प्रतबिंबित होता है। यह उस काल के मवेशी, भेड़ों/बकरियों जैसे पालतू पशुओं और भेड़िए जैसे जंगली जानवरों की अस्थियों की विद्यमानता से स्पष्ट होता है। ऐसा जान पड़ता है कि कंकाली अवशेष क़ब्र में दफना दिए जाते थे अथवा उन पशुओं की बलि दी जाती थी और उन्हें मृत्तकों के भोजन के लिए क़ब्रों में दफना दिया जाता था। मालाओं और ज़ेवरों से अलंकृत जानवरों का पक्की मिट्टी से बनी छोटी-छोटी मूर्तियाँ भी जीववाद को प्रतिबिंबित करती हैं।

संगम साहित्य, जो दक्षिण भारत में महापाषाण संस्कृति के अंतिम दौर का समकालीन है, भी महापाषाण समाज में प्रचलित मृतकों के निपटारे की विभिन्न विधियों पर प्रकाश डालता है। पूर्व के अधिकांश विश्वास संगम युग में बने रहे। इसलिए, हम ऐसा मान सकते हैं कि संगम साहित्य में उल्लेखित धार्मिक रिवाज किसी हद तक महापाषाण समाज के रिवाज ही थे। मृतकों के साथ पत्थरों को संबद्ध करने की परंपरा हाल तक दक्षिण भारत में क़ायम रही है और महापत्थर अथवा वीराकल अथवा मस्तिकल इस के उदाहरण हैं।

8.11 राजव्यवस्था

स्मारकों के आकार में भिन्नताओं और हैसियत तथा पद-निर्धारण में विभेदीकरण सूचित करने वाली क़ब्र की बहुमूल्य वस्तुओं के स्वरूप से तत्कालीन राजनीतिक सत्ता का भी बोध होता है। विशाल स्मारक के निर्माण और उसके लिए अपेक्षित भारी सामूहिक भ्रम के संघटक से दफ़नाए गए व्यक्ति की शक्ति-संपन्नता का अहसास होता है।

इस तथ्य के आलोक में कि तत्कालीन लोग जनजातीय वंशज समुदाय के थे, मानवशास्त्रीय दृष्टि से हम सरदार की सत्ता अर्थात जागीर (chiefdom) के प्रचलन में विश्वास कर सकते हैं। सरदार वंशज समूह का महान सपूत था। महापाषाण संस्कृति का अंतिम चरण आरंभिक ऐतिहासिक काल का समकालीन है जैसा कि अनेक स्थलों पर की गयी खुदाइयों से मालूम होता है। इसलिए, संगम साहित्य भी हमें उस काल को समझने में मदद करता है। साहित्यिक ग्रंथों में जनजातीय समूह के सरदार की चर्चा पेरुमाकन (महापूत) के रूप में हुई है। वह अपने कुल के सारे निजी, भौतिक और सांस्कृतिक संसाधनों का अधिपति होता था। इससे मालूम होता है कि अलंकृत अंत्येष्टियाँ संभवतः सरदारों अथवा वंश के प्रधानों की होती थीं। सत्ता के वितरण का जनजातीय प्रतिमान सरल था और इसमें कोई क्रम-परंपरा नहीं थी,

हालांकि सरदार, उनके उत्तराधिकारी और योद्धा विशेषाधिकार-संपन्न होते थे। फिर भी, हैसियत में भिन्नता इतनी लचीली थी कि उसे स्तरीकरण नहीं माना जा सकता।

ईस्वी सन की प्रथम सहस्राब्दी के मध्य तक भी, जो अब महापाषाण की निर्धारित ऊपरी तिथि है, दक्षिण भारत में कहीं भी वर्ग आधारित समाज का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए कोई युक्ति संगत साक्ष्य नहीं है। अतः कुछ विद्वानों द्वारा स्तरीकृत समाज के रूप में, जिसमें कुलीन लोग भी शामिल थे, जनजातीय वंशज समूहों के अस्तित्व के संबंध में दी गयी अभ्युक्तियाँ सही नहीं प्रतीत होतीं। इन विशाल स्मारकों की अवधि ईसा के दो से तीन सदी पूर्व से आगे नहीं जाती। इस अवधि में कुछ छोटी जागीर एक ही साथ विद्यमान थीं और उनमें झगड़े होते रहते थे और इन्हीं के भीतर से ईस्वी सन के आरंभ तक कुछ बड़े सरदारों का उदय हुआ। जैसा कि राजन गुरुक्कल ने दर्शाया है, बड़े सरदारों के अधीन भी लोग कुल और रिश्तेदारी तथा पुनर्विभाजन की जटिल प्रणाली पर आधारित सामाजिक संगठन में थे। पुरानमुरु जैसे तमिल के वीरगाथा ग्रंथों में उल्लेख से स्पष्ट है कि बड़े सरदार भी, जो अन्य अनेक सरदारों के बीच प्रतिष्ठामूलक हैसियत रखते थे, भस्म-कलश वाली अंत्येष्टियों समेत सारी अंत्येष्टियाँ एक प्रकार से ऐसे व्यक्तियों अथवा समूहों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो कुछ हैसियत रखते थे और जो अपने कुलों अथवा रिश्तेदारों के प्रधान थे। इस प्रकार, ऐसा माना जा सकता है कि कभी-कभार स्मारकीय पत्थर (नाटुकल) बड़े सरदारों और योद्धाओं के भस्म-कलश के ऊपर खड़े किए जाते थे। फिर भी, साहित्यिक ग्रंथों में कहीं भी विशाल बहुप्रकोष्ठीय शिलाखंडों की समाधियों का उल्लेख नहीं है, क्योंकि उस समय तक वैसी जटिल अंत्येष्टियों का निर्माण संभवतः असामान्य हो गया होगा।

जागीर में कुछ मानव-शक्ति, संसाधन-नियंत्रण और विनिमय-संबंधों की दृष्टि से अधिक बड़े रहे होंगे। यह क़ब्रों में प्रतिष्ठामूलक सामग्रियों, विविधि प्रकार के मृण्पात्रों (मृदभांडों) और अन्य शिल्प-कृतियों की प्राप्ति से अभिप्रमाणित होता है।

महापाषाण काल के लोग एक दूसरे से जुड़े थे और परस्पर भौतिक और सांस्कृतिक सामग्रियों का आदान-प्रदान करते थे। कुल-गोत्रों के स्तर पर पारस्परिक क्रिया आवश्यकता-उन्मुखी और उपयोगिता-मूल्य पर आधारित थी। लेकिन, सरदारों के स्तर पर यह प्रतिस्पर्धात्मक थी जिसके फलस्वरूप सरदारों के नेतृत्व में कुल-गोत्र के अंदर और बाहर लूट-खसोट के लिए छापामारी चलती रहती थी। नतीजा यह होता था कि एक सरदार दूसरे सरदार को वशीभूत कर लेता था और इससे अधिक शक्तिशाली सरदारों का उदय होता था और अधिक बड़ी जागीर क़ायम हो जाती थीं। कुल-गोत्रों के बीच इन सशस्त्र संघर्षों का अंत अनेक सरदारों और योद्धाओं की मृत्यु में होता होगा। महापाषाण युग में बहुसंख्यक समाधिगत स्मारकों को संभवतः इसी कारण खड़ा किया होगा। वीर-पूजा और पूर्वज-पूजा के अभ्युदय का कारण भी यही है। सशस्त्र मुठभेड़ ओर लूट-खसोट भरा अधीनीकरण के फलस्वरूप कुछ सरदारों की सांस्कृतिक और राजनीतिक सत्ता में इजाफ़ा हुआ और वे और बड़े सरदारों के रूप में उभर कर आए। तमिल के वीरगाथा ग्रंथ इन्हीं बड़ी जागीर के दौर का निरूपण करते हैं। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि महापाषाण काल का अंतिम दौर, जो संगम काल का समकालीन है, अधिक बड़े जागीरों की ओर अग्रगमन का दौर है।

8.12 महापाषाणकालीन संस्कृति की विरासत

इसका उल्लेख करना रोचक होगा कि महापाषाणवाद भारत की विभिन्न जनजातयों में अभी भी जीवित है; जैसे- मध्य प्रदेश में बस्तर ज़िले का मारिया गौंड, उड़ीसा के बोंदोस और गदबास, झारखंड के छोटानागपुर में ओरावं और मुंडा, असम में खसिस और नागा। उनके स्मारकों में डोलमेन, पत्थर के वृत्त और दीर्घाश्म स्तंभ शामिल हैं। उत्तर-पूर्व भारत की महापाषाण संस्कृति पाश्चात्य प्रभाव की अपेक्षा दक्षिण पूर्व एशिया से मेल खाती प्रतीत होती है।

दक्षिण भारत के संदर्भ में नीलगिरि के टोड़ा लोगों के बीच महापाषाणवाद के अवशेष बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस आदिम जनजाति की प्रथाओं के बारे में एम.जे. वाल्हाउस का विवरण उन उत्तरजीवी अंत्येष्टिक प्रचलनों का खुलासा करता है जिनका अनुपालन महापाषाण काल के लोगों द्वारा किया जाता था। इससे दक्षिण भारत के अब विलुप्त महापाषाणकालीन निर्माताओं के बीच विद्यमान संभावित प्रथाओं को समझने में मदद मिलती है। टोडा लोगों के वर्तमान अंत्येष्टिक प्रचलनों में अनेक महापाषाणकालीन अंत्येष्टियों के लक्षण, जिनमें खाद्य सामग्रियों समेत क़ब्र के सामान और अंत्येष्टिक के स्थान की पहचान के लिए पत्थर के वृत्त शामिल हैं, मौजूद हैं।

8.13 महापाषाणकालीन संस्कृति के अध्ययन के लिए स्रोतों की सीमाएँ

महापाषाण संस्कृति के अध्ययन के मार्ग में सबसे बड़ी समस्या है उपलब्ध स्रोतों का स्वरूप। पहली बात तो यह है कि चूंकि लगभग सारे साक्ष्य अंत्येष्टियों से संकलित किए गए हैं, इसलिए उनके दैनिक जीवन की दशाओं और विधियों के बारे में हमारा ज्ञान अनिवार्य रूप से उनके क़ब्र उपस्करों और क़ब्रों के स्थापत्य के निरीक्षण से निकाले गए निष्कर्षों और संबद्ध सोच-विचारों तक ही सीमित है। साहित्यिक साक्ष्यों, जिनमें ग्रीक-रोमन लेखकों और प्राचीनतम ग्रंथों (संगम साहित्य) के वृत्तांत शामिल हैं, की भी अपनी सीमाएँ है क्योंकि उनकी अवधि महापाषाण संस्कृति के अंतिम दौर की है। दूसरी बात यह है कि विभिन्न निवास-स्थलों के सांस्कृतिक क्रम को जानने के लिए उनमें की गयी सीधी-खड़ी खुदाइयों से जो साक्ष्य प्राप्त होते हैं वे अल्प और सीमित स्वरूप के हैं। और, इन साक्ष्यों के आधार पर उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों के संबंध में कोई भी सामान्यीकरण निरापद नहीं है। फिर भी, इन खुदाइयों से प्राप्त साक्ष्य भले ही फुटकर और असंबद्ध हों, उनसे महापाषाण संस्कृति की कामचलाऊ तस्वीर बनाने में हमें मदद मिलती है। फिर एक बात यह भी है कि समाधि से जुड़े अधिवासीय अवशेषों की कमी का मुद्दा प्रायद्वीपीय भारत के महापाषाण के संदर्भ में प्रायः उठाया जाता रहा है। केरल जैसे क्षेत्रों में आवास-स्थलों की अनुपस्थिति के कारण महापाषाण संस्कृति की अधिवासीय पद्धति का विश्लेषण कार्य मुश्किल हो गया है। ऐसे अधिवासीय स्थल विविध सांस्कृतिक तत्त्वों के काल को पृथक करने के लिए स्तर विन्यास संबंधी आंकड़ों के अतिरिक्त और भी तरह के साक्ष्य प्रस्तुत कर सकते थे और तब महापाषाणकालीन लोगों के इतिहास का पुनर्निर्माण और अधिक तथ्योदघाटक होता।

इस प्रकार, दक्षिण भारत के महापाषाण प्रश्नों की एक ऐसी श्रृंखला पैदा करते हैं जिनके उत्तर रहस्य के आवरण में लिपटे हैं। बहुत हाल की अपनी रचनाओं में बी. विधाधर राव ने (2000) अंत्येष्टि के रूप में महापाषाणों की प्रामाणिकता पर ही प्रश्न उठाया है। इस विषय पर अभी और अनुसंधान किए जाने की ज़रूरत है। आशा है, भविष्य के शोधकर्ता महापाषाण संस्कृति के संबंध में और अधिक विश्वसनीय, अधिक साफ-सुथरी तस्वीर प्रस्तुत करेंगे।

8.14 उपसंहार

उपयुक्त विवेचना को सारांशबद्ध करते हुए हम कह सकते हैं कि दक्षिण भारत में महापाषाण संस्कृति के लोग बड़े ही जीवंत, कल्पनाशील और सक्रिय थे और उन्होंने पूर्व के नव पाषाण-कांस्य पाषाण कालों के समाज का कायापलट कर दिया। एक विशाल समाज के निर्वाह के लिए वे कृषि पर बहुत हद तक निर्भर थे, हालांकि आखेट और माहीगिरी उनकी खाद्य-आपूर्ति में सहायता करती थी और विविध उद्योग तथा शिल्प उनकी अर्थव्यवस्था को समृद्ध बनाते थे। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि महापाषाणकालीन लोग कृषि-पशुचारिता के उत्पादनों पर आधारित मिश्रित अर्थव्यवस्था का संचालन करते थे। नागर जीवन के प्रति उनका झुकाव था, लेकिन गंगा की घाटी, जहाँ ईसा की 6ठी-5वीं सदी पूर्व से ही संस्थापित नगर फूल-फल रहे थे, के अपने समकालीनों जैसे विशाल नगरों के निर्माण के लिए उनमें अपेक्षित उत्साह और त्वरा का अभाव था। वे भारत में लौह युग के लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक गतिशील लोगों के

पृथक समुदाय थे। मृत्तकोपासना उनके धर्म और जीवन की प्रबल विशेषता बन गयी जो अनेक जनजातियों की संस्कृति में अभी भी क़ायम है।

8.15 सारांश

- दक्षिण भारतीय महापाषाणकालीन लोग भारत में लोहे के उपयोग में अव्वल थे, इसलिए इस संस्कृति को दक्षिण भारतीय लौह युगीन संस्कृति के नाम से भी जाना जाता है।
- एक विशाल समाज के निर्वाह के लिए वे कृषि पर बहुत हद तक निर्भर थे, हालांकि आखेट और माहीगिरी उनकी खाद्य-आपूर्ति में सहायता करती थी और विविध उद्योग तथा शिल्प उनकी अर्थव्यवस्था को समृद्ध बनाते थे।
- महापाषाणकालीन लोग एक उन्नत, विशेषीकृत कृषि और पशुचारिता पर आधारित अर्थव्यवस्था चलाते थे।
- समाधि में औज़ारों, मृदभांडों, आभूषणों इत्यादि वस्तुओं की मौजूदगी पुनर्जन्म में उनके विश्वास को दर्शाता है।
- महापाषाणकालीन संस्कृतियों ने ईस्वी-युग की शुरुआत में प्रायद्वीपीय भारत और दक्कन के क्षेत्रों में आगामी विकास की नींव रखी।

प्रगति जाँच अभ्यास 3

1. महापाषाण संस्कृति से जुड़े किन्हीं तीन प्रकार मृत्तिका-बरतनों का उदाहरण दें।
2. महापाषाणकालीन संस्कृति की धार्मिक मान्यताओं और प्रथाओं पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें। (दस वाक्यों में)

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:

1. दक्षिण भारतीय महापाषाण संस्कृति की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें।

संक्षिप्त टिप्पणी:

1. मेगालिथ अर्थात महापाषाण

प्रगति जाँच अभ्यासों के उत्तर

प्रगति जाँच अभ्यास 1

क. (i) सही (ii) गलत (iii) सही (iv) सही (v) सही
ख. ब्रह्मगिरी (कर्नाटक), पायमपल्ली (तमिलनाडु)

प्रगति जाँच अभ्यास 2

क. (i) चट्टानों को काटकर बनाई गयी गुफाएँ (ii) गुंबदनुमा कब्र (iii) दीर्घाश्म स्तंभ (iv) पत्थर के वृत्त (v) गर्त अंत्येष्टियाँ

प्रगति जाँच अभ्यास 3

1. लाल-काला मृदभांड, पॉलिशदार काला मृदभांड, लाल मृदभांड
2. देखें खंड 8.10

विस्तृत अध्ययन हेतु पाठ्य-सन्दर्भ सूची

आल्चिन, ऍफ़. आर. और बी.	*ओरिजिन्स ऑफ़ ए सिविलाईज़ेशन: द प्रीहिस्ट्री एंड अर्ली आर्कियोलोजि ऑफ़ इंडिया,* विकिंग, 1997
बैषम, ए. एल.	*अद्भुत भारत*, शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा
चक्रबर्ती, डी. के.	*इंडिया: एन आर्कियोलोजिकल हिस्ट्री,* दिल्ली, ओयूपी, 1999
चक्रबर्ती, रणबीर	*भारतीय इतिहास,* आदिकाल, नई दिल्ली, ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2012
इग्नू सिरीज़	*भारत: प्राचीन काल से आठवीं सदी ई. तक*
जैन, वी. के.	*भारत का प्रागैतिहास और आद्य-इतिहास: एक अवलोकन*, नई दिल्ली, 2008
झा, डी. एन.	*प्राचीन: भारत एक रूपरेखा,* 2013
झा, डी. एन.	*अर्ली इंडिया: ए कॉनसाइज़ हिस्ट्री,* दिल्ली: मनोहर, 2004
झा, डी. एन. और श्रीमाली, के.	*प्राचीन भारत का इतिहास,* हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय
कोशांबी, डी. डी.	*प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता*
कोशांबी, डी. डी.	*मिथक और यथार्थ*
रत्नागर, एस.	*अंडरस्टैंडिंग हड़प्पा: सिविलाइजेशन इन ग्रेट इंडस वैली,* नई दिल्ली, तूलिका, 2001
कराशिमा, एन.	*ए कॉनसाइज़ हिस्ट्री ऑफ़ साउथ इंडिया,* दिल्ली, ओयूपी, 2004
रे, एच. पी.	*मोनास्टी एंड गिल्ड:कॉमर्स अंडर सातवाहन्स,* दिल्ली, ओयूपी, 1986
राय, निहार रंजन	*मौर्य एवं मौर्योत्तर कला*
शर्मा, आर. एस	*प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास,* हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2000
शर्मा, आर. एस	*प्राचीन भारत के सामाजिक और आर्थिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य*
सिंह, उपिंदर	*प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास से पाषाणकाल:* 12वीं शताब्दी तक
थापर, रोमिला	*पूर्वकालीन भारत*: प्रारंभ से *तेरहवीं सदी तक*, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2008
थापर, रोमिला	*अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन, ग्रन्थशिल्पी*